आमुख

भारतीय वाङ्मय में जैन वाङ्मय का अपना विशिष्ट स्थान है। जैन ग्रन्थकारो की रचनाओ का लक्ष्य प्राणीमात्र का कल्याण रहा है। प्राय. सभी जैन कृतियाँ सोद्देश्य रही है। जैन साहित्य का बहुभाग संसार-विरक्त वीतराग निर्ग्रन्थ आचार्यों का रचा हुआ है। उन्होने साहित्य के सभी अंगो को अपनी बहुमुखी प्रतिभा से पुष्ट और अलंकृत किया है। उन्होने संसार, परिवार और भोगो को तुच्छ समझ कर विराग ले लिया, जिससे वे आत्मा के अनन्त वैभव के दर्शन कर सके। उन्होने अपनी सतत साधना के द्वारा उस वैभव के दर्शन किये और अनुभव किया। संसार की कभी समाप्त न होने वाली वेदनाओ मे छटपटाते हुए संसारी प्राणियो की दशा देखकर उन आचार्यो को करुणा उपजी और उन्होने इसी करुणा-बुद्धि से अपने अनुभवो को विभिन्न भाषाओ मे लिखा। चूंकि उनकी भावना जगत्कल्याण की थी। इसलिये उन्होंने किसी भाषा विशेष का आग्रह नही किया। भाषा भाव प्रगट करने का माध्यम है। भाषा का इतना ही महत्व है। इस महत्व को जैनाचार्यो ने हृदयंगम किया था। इसलिये उन्होने संस्कृत और प्राकृत के अतिरिक्त कनड़ी, तामिल, मराठी, शौरसैनी, राजस्थानी, गुजराती आदि सभी लोक भाषाओं में साहित्य सृजन किया। इस प्रकार जहां इन लोक भाषाओं को साहित्य का

माध्यम बनने का सौभाग्य प्रदान किया, वहां अपने आध्यात्मिक विचारों और सन्देशों को जन-जन के लिये सुलभ कर दिया।

आज जब कि यह चर्चा का विषय बना हुआ है कि लोक भाषाओं में उच्च साहित्य निर्माण करने की क्षमता नहीं है, तब शताब्दियों पहले जैनाचार्यों ने सभी गम्भीर विषयों पर प्रान्तीय और लोक भाषाओं में मौलिक और उच्च कोटि का साहित्य सृजन करके इस धारणा को मिथ्या प्रमाणित कर दिया था और सिद्ध कर दिया था कि हर भाषा में समान क्षमता है, हर भाषा समृद्ध है। यदि नहीं है तो वह सक्षम और समृद्ध बनाई जा सकती है। तथा उच्च कोटि के विषयों को प्रगट करने के लिये उसे माध्यम बनाया जा सकता है।

ऐसी ही विस्मयकारी आध्यात्मिक छटा प्रस्तुत 'निर्वाण लक्ष्मीपति स्तुति' में देखने को मिलती है । यह एक लघु स्तुति ग्रन्थ है। इसमे कुल २८ पद्य है । इसमें सभी पद्यो में निर्वाण लक्ष्मीपति को संवोधन करके अध्यात्म की प्ररूपणा की है। इसके रचयिता सुजनोत्तम वोप्पण कवि है। इनकी अन्य कृतियां कौन-सी हैं, इन कवि का क्या परिचय है, यह तो विशेष ज्ञात नही है, किन्तु इनकी रचना में प्रौढ़ता है । भाषा की दृष्टि से तो कुछ कह नही सकते, किन्तु इनके विचार प्रौढ़ हैं, आगमानुसारी है । भेद विज्ञान, आँत्म-भावना, आत्म-गुरु, आत्म-शरण, आत्म-ध्यान, पाप और पुण्य की हेयता, आत्मा का स्वरूप आदि अनेक विषयों पर कवि ने प्रकाश डाला है।

कनड़ी कवियों और आचार्यों की परम्परा के अनुसार आचार्य-रत्न श्री देशभूषणजी महाराज साहित्य को सर्वजन सुलभ बनाने में विश्वास करते हैं। इसलिये वे अपनी रचना मे प्रायः हिन्दी भाषा ही लिखते है। किन्तु इससे भी अधिक महत्व की बात यह है कि आप कनड़ी जैन साहित्य के अमूल्य रत्नों को हिन्दी भाषा जनता के लिये सुलभ कर रहे है। उन्होने अब तक रत्नाकर शतक, अपराजितेश्वर शतक, भरतेश वैभव, भावना सार, धर्मामृत, योगामृत, निरजन स्तुति आदि अनेक कनड़ी ग्रन्थो का हिन्दी अनुवाद किया है। उन्होने इस प्रकार न केवल कनड़ी का रसास्वाद कराके हिन्दी भाषियो को उपकृत किया है, अपितु

उन्होंने दक्षिण और उत्तर भारत की भावात्मक एकता को भी अपने प्रयत्नों द्वारा बल प्रदान किया है। इसके लिये हिन्दी भाषी समाज और उत्तर भारत पूज्य आचार्य महाराज का चिरऋणी रहेगा।

विषय-सूची

श्लोक संख्या	विषय	पृष्ठ
१.	भेद विज्ञान होने पर समस्त सासारिक सम्पत्ति व्यर्थ है	१—६
२.	मोह पिशाच को दूर करने वाले ही भेद विज्ञानी हो सकते है	७–१२
३.	जीव मे भेदाभेद दृष्टि अपेक्षा-भेद से है	१२–१७
४.	जीव द्रव्य की अपेक्षा अभिन्न, पर्याय की अपेक्षा भिन्न और गुण-पर्यायो की अपेक्षा भिन्नाभिन्न हैं	१८-२५
५.	आत्म-भावना से आत्म-सिद्धि होती है	२६-३५
६	आत्मा स्वय अपना गुरु है	३६-४०
७.	आत्मा अपना उद्धार स्वयं ही कर सकता है	४१-४६
८.	मिथ्यात्व से ससार मे परिभ्रमण करना पड़ता है	४६-५१
९.	अज्ञानी चारित्र का पालन करने पर भी संसार भ्रमण करता है और आत्मज्ञानी संसार से पार होता है	५१-५५
१०.	रत्नत्रय की एकता से मोक्ष सिद्धि होती है	५५-६१
११.	व्यवहार और निश्चयनय दोनो का ही अवलम्बन करना उचित है	६१-६६
१२.	भेद-विज्ञान से विभाव परिणति नही होती	६६-६६



सुजनोत्तम वप्परण कवि विरचित

(कानड़ी काव्य)

श्री निर्वाण लक्ष्मीपति-स्तुति

(हिन्दी अनुवाद विवेचन सहित)

भेद विज्ञान होने पर समस्त सासारिक सम्पत्ति व्यर्थ है

श्रीयुं निर्मलवंशमुं विभूतेयुं शास्त्रार्थ वेदित्वमुं ।
कायायुस्थिरभावमुं मनुजगा वंगा दोडं मत्त पा ॥
देयं हेयसिदेंदुतां स्वपर तत्वातत्वमुं काणदं ।
दायेल्लं विफलंदळेंदरिपिदै निर्वाण लक्ष्मीपती ! ॥ १

अर्थ—मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति, हे अरहंत भगवान ! किसी प्राणी को जब तक अपने स्वरूप और आत्मेतर स्वरूप का ज्ञान नही होता है, तब तक जीव बाह्य सपत्ति, उत्तम कुल, ख्याति लाभ, बल, आयु, शास्त्र ज्ञान, शास्त्रार्थ, वाद-विवाद, सुन्दर

शरीर, अनेक भोगोपभोग सामग्री इत्यादि बाहरी सामग्री में रत रहता है और उसमे ममत्व बुद्धि रखता है। किन्तु स्व पर ज्ञान होने पर यह सभी ऊपरी वस्तु हेय जानकर ज्ञानी सम्यक्दृष्टि जीव छोड़ देता है। स्व पर ज्ञान के बिना प्राणी को सारी बाह्य वस्तु तथा संपत्ति सुखकारी प्रतीत होते हुए भी उनके लिए निष्फल तथा दु खदाई है। इस प्रकार आपने समझाया है ॥१॥

भावार्थ—जब तक मनुष्य को स्व और पर का ज्ञान प्राप्त न हो तब तक स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, कुटुम्ब, महल, मकान जमीन सुन्दर शरीर, आयु, कुल, वश, जाति, ख्याति मद, अहकार इत्यादि पर प्रेम करता है व उन्हे अपना मानकर उनमे निमग्न रहता है। जब भेद विज्ञान के द्वारा स्व पर का ज्ञान हो जाय तब उसको बाहरी मानकर बुद्धिमान को छोड देना चाहिए। क्योकि जितनी भी बाहरी संपत्ति है, वह अनादिकाल से अनेक बार भोगी हुई और छोडी हुई है। फिर भी इस जीव ने इद्रियजन्य सुखो के आधीन होकर उसी के लालच से पुरुषार्थ के द्वारा पुण्य संचय करते हुए भोगोपभोग और इन्द्रिय सुखो को प्राप्त करने का प्रयत्न किया। उसने पुण्य के द्वारा देव पद प्राप्त कर मनोहर देवागनाओ के साथ आनन्द पूर्वक मनमानी क्रीडा की, बिना परिश्रम के कण्ठ से झरने वाले अमृत का आस्वादन करते हुए जठराग्नि को वार वार शात किया, तथा स्वर्गीय भोगो का अनुभव कर अन्त मे वहाँ की आयु को समाप्त कर मनुष्य गति को प्राप्त किया। मनुष्य पर्याय मे भी आकर स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, अनेक महल, मकान, कुटुम्ब इत्यादि

में मोहित होकर ममकार अहंकार करता रहा । जैसे मकड़ी अपने मुंह से निकले तन्तुओ के जाल में स्वयं ही फंस कर मर जाती है, उसी प्रकार यह जीवात्मा चारो गतियो मे भ्रमण करते हुये मोह जाल मे फंस कर जन्म मरण को प्राप्त होता है । फिर भी आशा रूपी गड्ढा पूर्ण न होने के कारण दुखी रहता है । जैसे जैसे अग्नि मे इंधन डालते जांय वैसे वैसे ही अग्नि की ज्वाला बढ़ती जायगी । उसी प्रकार पाचो इन्द्रिय रूपी अग्नि मे अनेक बाहरी वस्तु सुख सामग्री मिलने से तृष्णाग्नि बढती ही जाती है और शान्ति के बदले अशाँति मिलती है ।

इन सभी दुखों का मूल कारण अनादि कालीन अविद्या ही है । इसलिए हे आत्मन् ! तू अविद्या रूपी मोह में व्यामोहित होकर संसार रूपी महा भयानक भव अटवी मे यत्र तत्र भ्रमण कर रहा है ।

हुंफट् कार वषट् पुरःसर महामंत्रै. परानद्भुतै-
र्भूं तात्यज्वर शाकिनी ग्रह हतानुन्मोदयन् तृप्यसि ॥
आत्मानं पुनरुद्धत स्फुरदहकार ग्रहोल्लंचितं ।
नैवोल्लंघयितुं दधासि हृदये सन्मंत्र वीजाक्षरं ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! जो जीव भूत पिशाच आदि ज्वर से ग्रस्त हैं, जिनके ऊपर शाकिनी डाकिनी ग्रह आदि का पूरा पूरा प्रकोप है, उन्हे तू हुं फट् और वषट् आदि महामंत्रो से आनन्दित करता हुआ तृप्त करता है । अपने महा मंत्रो के बल से उनकी भूत वाधाओ को सर्वथा दूर कर देता है परन्तु न मालूम उद्धत और

प्रचड अहकार रूपी ग्रह से ग्रस्त अपने आत्मा को वश करने के लिए तू ध्यानाग्नि रूपी बीजाक्षर का महा पवित्र मत्र हृदय मे क्यो धारण नही करता ?

भावार्थ—जब तक इस आत्मा पर ममकार अहकार रूपी ग्रह का प्रकोप रहेगा, तब तक यह आत्मा अपने आनन्दमय स्व स्वरूप का अनुभव नही कर सकता। इसलिए हे आत्मन्! तू ऐसे परम पवित्र बीजाक्षर महामत्र का आराधन कर जिससे यह तेरा अहकार रूपी ग्रह नष्ट हो जाय। अपनी वाहवाही के लिए व अन्य पुरुषो को रंजायमान करने के लिए तू भूत पिशाच डाकिनी आदि की बाधाओ को दूर करने के लिए हु फट् वषट् आदि मत्रो को उपयोग मे लाता है। किन्तु इससे तेरी आत्मा का कभी कल्याण नही होगा।

स्तोकेनाविशदेन सशयवता किं पोतकी पिंगला।
काकादि व्यभिचारिशाकुन परिज्ञानेन निश्चीयते॥
स्वस्थ सद्गति दिव्यनाद परमानदोदय बुध्यसे।
हा त्व चेदिह किं न किं कलयसि स्वाधीन बोधस्तदा॥

हे आत्मन्! तू शकुन के ज्ञान को प्रकर्ष ज्ञान मानता है परन्तु वह बिलकुल थोडा है, महा मलिन अपवित्र, और संशय उत्पन्न करने वाला है। शकुनी मनुष्य कभी कभी यह पूर्ण निश्चय नही कर सकता है कि कबूतरी आदि के सामने पड जाने से क्या फल होगा। इसलिए तू उस ज्ञान से कभी भी किसी बात का निश्चय नही कर सकता। यदि तुझे अपने स्वरूप मे लीन, दिव्य

ध्वनि और अतिशय आनन्द मंडित आत्मा का ज्ञान है तो तू उसी से सब बातो का निश्चय कर सकता है। क्योकि उस समय तेरा ज्ञान स्वाधीन आत्मिक है । अर्थात् जब तक आत्मा को स्वाधीन बोध प्राप्त नही होता तब तक वह संदेह रहित होकर किसी भी पदार्थ का निश्चय नही कर सकता तथा इसका लाभ स्वस्थ, उत्तम गति और दिव्य ध्वनि के धारक, एवं आनन्द स्वरूप आत्मा के निश्चय से होता है। इसलिए हे आत्मन् ! यदि तू वास्तव मे सब पदार्थो का निश्चय करना चाहता है तो इसो स्वाधीन ज्ञान का तू लाभ कर, व्यर्थ के शकुन ज्ञान मे मत फस, क्योकि वह ज्ञान बिलकुल थोड़ा ज्ञान है। अविशद अर्थात् परोक्ष और संशय करने वाला है, तथा कबूतरी आदि के सामने पड़जाने से कुछ और समझ लेता है और होता कुछ और ही है। इसलिए ये सभी व्यभिचारी हेतु है।

इसलिये हे जीव ! जिसके प्रसाद से निज स्वरूप का ज्ञान अपने को हो ऐसे स्वानुभव का अभ्यास कर। प्रथम यह स्वानुभव सब द्रव्यो से भिन्न आत्मा का सहज स्वभाव सच्चिदानन्दाद्यनन्त गुणमय निजानन्द है । अनादि कर्म संयोग से आत्मा अशुद्ध हो रहा है। वह पर पदार्थ को अपना मानकर पर भाव किया करता है इसलिए आत्मा को जन्म मरणादि दु ख भोगना पड़ रहा है। दु ख की यह परिपाटी उसने अपने अशुद्ध चितवन से प्राप्त की है। अगर तू अपने स्वरूप को ठीक अपने लक्ष्य से सभाले तो एक क्षण मे सभी दु ख दूर हो जायेगे, और आत्म स्वरूप की प्राप्ति होगी। यही उसका उपाय है। दूसरा कोई उपाय नही है। आप

उलटा मानकर अपने आत्म स्वरूप को भूल गया और अगर इसी परिणाम को पलटकर स्वरूप की ओर लायेगे तो मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति बनेगे। ऐसे परिणामो मे कभी दु ख या क्लेश नही होता। यह परिणाम कौन करता है ? तू अनादि अविद्या मे पडा हुआ है तथा मोह की गाठ मजबूत पडी है। जैसे किसी पुरुष को अफीम का नशा चढ़ जाने से दु ख होता है तो उस नशे की वजह से वह दु.ख दूर नही होसकता। नशा चढ़जाने से वह प्राणी अरट सरट बकता रहता है। वह कहता है कि मै बन्धनो मे हूँ वह यदि छूट जाय तो सुखी है, परन्तु उस बधन से मुक्त नही हो पाता। आत्मा अनादि कर्म सयोग से छूटे तो सुख है, असत्य पर वस्तु को ग्रहण कर दु ख मानकर बैठा है। इसको मिटाने के लिए स्व और पर के ज्ञान की जरूरत है। जब तक स्व और पर का ज्ञान न हो तब तक पर वस्तु मे जो आत्म बुद्धि अज्ञान से इस जीव के हो गई है वह दूर होकर इस जीव को आत्म सिद्धि नही हो सकती।

इसका भावार्थ यह है कि अज्ञानी जीव अनादि काल से पर वस्तु मे आत्म बुद्धि रखता आया है। जब तक यह आत्म-बुद्धि रहती है, तब तक इस जीव को मोक्ष होना असम्भव है। कहा भी है कि—

वध्यते मुच्यते जीव सममो निर्मम क्रमात्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन ;निर्ममत्व विचितयेत् ॥

भावार्थ—जो ममता सहित जीव है वह बधता है तथा जिसने ममता छोड दी है वह मुक्त हो जाता है। इसलिये सर्व प्रयत्न करके ममता रहित भाव का विचार करना चाहिये।

मोह-पिशाच को दूर करने वाले ही भेद-विज्ञानी हो सकते है।

प्रणुतात्मा परमेष्ठि निश्चयनयं त्वद्रूपमं द्रव्यदिं ।
गुणदिं पर्ययदिंदमावनरिगु निन्नुक्ति यिंदातनु ॥
त्पण मोहग्रहसंपेणचिंसि परिच्छिन्नात्मतत्वं दृढ़ ।
प्रणिधानोचितनप्पनेंदरिपिदै निर्वाण लक्ष्मीपती ! ॥२॥

हे मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति ! हे जिनेन्द्र देव ! जो भव्यजीव आपके अमृतमयी उपदेश को सुनकर द्रव्य गुण पर्याय अपेक्षा से श्रेष्ठ आत्मा को, पंच परमेष्ठियो को, निश्चय को और आपके स्वरूप को अच्छी तरह से जानता है, उसमे रुचि रखता है और जो उसमे भ्रम उत्पन्न करने वाले मोहरूपी पिशाच को दूर करके आत्म-स्वरूप मे दृढता को प्राप्त हो जाता है, वही भव्य जीव भेद विज्ञान के योग्य है ऐसा आपने समझा दिया है ॥२॥

विवेचन- आचार्य ने यहाँ भेद विज्ञान के बिना मोक्ष की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ बतलाया है। भेद विज्ञान के बिना यह जीव अनादिकाल से पर वस्तु के सयोग से संसार में भ्रमण करता हुआ अनेक प्रकार के कष्ट पाता आ रहा है। जैसे गाय के स्तन मे लगा हुआ पिस्सू उसी स्थान मे दूध होने पर भी खून को पीकर अपने को सुखी मान लेता है, उसी तरह यह ससारी जीव अनादि काल से अपने अन्दर ही अनन्त गुण अनन्त सुख का भंडार होने पर भी उसका स्वाद न लेकर इन्द्रियजन्य सुख को ही सुख मानकर संसार रूपी बन मे भ्रमण कर रहा है। इन्द्रियजन्य

सुख क्षणिक है। अतीन्द्रिय सुख शाश्वत है। परन्तु जीव की ऐसी मान्यता कभी नही हुई और इन्द्रिय सुख को हेय मानकर त्याग करने की भावना आज तक नही हुई। भगवान जिनेन्द्रदेव का उपदेश इस प्रकार है कि हरेक द्रव्य गुण पर्याय से युक्त है। विना गुण पर्याय के कोई भी द्रव्य नही रहता है। इस तरह यह जीव भी अपने शुभाशुभ कर्म बंध के अनुसार नरक मनुष्यादि गतियो मे भ्रमण करता आ रहा है। किन्तु उसे अपने असीम सुख की प्रतीति नही हो रही है। इसने कभी अपने शुद्ध आत्मा को भली भाति जानकर व्यवहार और निश्चय की आराधना नही की और व्यवहार के द्वारा आचरण कर अपने आत्म तत्व को शुद्ध करने का प्रयास नही किया। अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु को कभी अपने मन मे सिद्ध करके उसमे लीन होकर, उनका स्मरण नही किया। तत्पश्चात् निश्चयनय से आत्मा और शरीर दोनो भिन्न है। निर्विकार, निरंजन, शुद्ध चेतन स्वरूप, ज्ञानदर्शन उपयोग से युक्त निराकार सिद्ध परमात्मा मेरे अन्दर है। वह मै ही हूँ। इस तरह एकात मे एकाग्रता से बैठकर अपनी आत्मा का ध्यान नही किया। और भ्रम उत्पन्न करने वाले मोहरूपी पिशाच को दूर करके आत्म स्वरूप मे दृढता को प्राप्त नही किया। जब तक यह जीव स्व और पर का ज्ञान करके इन्द्रिय सुखो को क्षणिक मानकर और स्व को अपना मानकर पर को भिन्न रूप से नही देखता है तब तक उसको भेद विज्ञान होना अत्यन्त कठिन है। और भेद विज्ञान के विना ससार से मुक्ति होना कठिन है।

इसलिये आचार्य कहते है कि जब तक किसी जीव को स्व और पर का ज्ञान नही होता है तब तक वह संसार मे भ्रमण करके अनेक दु:खो को प्राप्त होता है। सबसे पहले इस भव्य ज्ञानी जीव को विचार करना चाहिए कि—

कोऽहं कीदृग्गुण. क्वत्य किं प्राप्य. किंनिमित्तकः ।
इत्यूहः प्रत्यह नो चेदस्थाने हि मतिर्भवेत् ॥

मै कौन हूँ, मुझमे कौन कौन गुण है, मै पूर्व मे किस पर्याय (न जाने नरकादि किस दु खमय पर्याय) से आया हूँ, मुझे इस पर्याय मे क्या प्राप्त करना है (रत्नत्रय स्वरूप धर्म, न कि विषय भोग) और मैं किस हेतु पैदा हुआ हूँ (परोपकार, धर्म रक्षा, आत्म कल्याण के हेतु) इस प्रकार विचार करते हुये मनुष्य पर्याय को मुझको सार्थक करना चाहिए।

मुह्यन्ति देहिनो मोहान्मोहनीयेन कर्मणा ।
निर्मितानिर्मिताशेष कर्मणा धर्मवैरिणा ॥

प्रत्येक प्राणी समस्त ज्ञानावरणादि कर्मो के जनक और धर्म घातक मोहनीय कर्म के उदय से आत्मेतर वस्तुओ मे मोहित होकर आत्म स्वरूप को भूलकर सासारिक दु खो के चंगुल में फंस रहा है।

किन्नु कर्तुं त्वमारब्धं किन्नु वा क्रियतेऽधुना ।
आत्मनारब्धमुत्सृज्य बाह्ये त्वं विमुह्यसि ॥

हे आत्मन् ! तूने क्या कार्य करना शुरू किया था और इस समय कौन कार्य कर रहा है, बड़े खेद की बात है कि तू शुरू

किये हुये आत्म-हित का परित्याग कर इन समस्त बाहरी पदार्थों मे मोहित हो रहा है।

इदमिष्टमनिष्टं वेत्यात्मन्नारोपयन्मुधा ।
किन्तु भो मुह्यसे बाह्ये स्वस्मात स्वतन्त्रीभुम ॥

हे आत्मन् ! इस असार ससार मे यद्यपि कोई वस्तु अच्छी या बुरी नहीं है, सब अपने अपने स्वभाव से परिणमन कर रही हैं। किन्तु तेरा अति चचल मन ही इष्ट वस्तु को अच्छी और अनिष्ट वस्तु को बुरी मान कर उसमे रागद्वेष करता है। अतएव तेरा कर्तव्य है कि तू अपने चचल मन को ही स्वाधीन कर, जिससे वह स्वच्छन्दता से बाहरी वस्तुओ मे ऐसी कल्पना ही न कर सके, और उसके अपराध से तू भी रागी द्वेषी न कहलावे। अब तू अपना सच्चा हित जिसमे है ऐसा विवेकपूर्वक विचार करके अपनी सच्ची आत्मा का साधना के द्वारा अन्वेषण कर। यही विचार कर कि महान तीर्थकर देवो ने शुद्धात्मतत्व मे दृढता लाने के लिए बाहरी सपत्ति का तृण के समान त्याग कर दिया, और भयानक अटवी के बीच मे जाकर अखड आत्म सुख की प्राप्ति के लिए तथा देव दानव इन्द्र चक्रवर्त्यादि के द्वारा पूजनीय परम पद को प्राप्त कराने वाली एव महान कर्म शत्रु को हनन करने को कुठार के समान जिनेश्वरी दिगम्बरी दीक्षा धारण करने से पहले अपने सिर के बालो को पचमुष्ठी (अपने हाथ से) के द्वारा ऐसे उखाड कर फेक दिया मानो अपने क्रोध, मान माया लोभ रूपी शत्रुओ को उखाडकर फेक रहे हो। उन्होने परम

बीतराग दिगम्बर भेष—जिनेश्वरी मुद्रा धारण कर ली । बाद मे व्यवहार और निश्चय के द्वारा आत्म सुख की प्राप्ति के लिये आत्म साधनीभूत पंच महाव्रत, पंच समिति, पंच इन्द्रिय निरोध, षडावश्यक, भूमि शयन, अस्नान, आचेलक्य, अदंतधावन एक भुक्त, खड़े खडे आहार, केशो का लोच और बाईस परीषह सहन करते हुए कठिन तपश्चरण के द्वारा कर्म शत्रु को हनन करते हुए क्रम से अर्हन्त परमेष्ठी पद प्राप्त किया और वे ही अर्हंत परमेष्ठी अपने आत्म स्वरूप की पूर्ण प्राप्ति के द्वारा सिद्धपद प्राप्त करते हैं। उन्ही के मार्ग का अवलम्बन लेकर पहले व्यवह।र मार्ग का अवलम्बन करे। अब उन्ही पंच परमेष्ठी के स्मरण करने का उपाय बताते है—

तेसिं अक्खर रूवं भवियमणुस्साण सायमाणाणं ।
बुज्झइ पुण्णं बहुसो परपराये भवइ मोक्खो ।।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञानी भव्य जीव को लक्ष में लेकर कहा गया है कि जब उसका मन इतना बलवान नही होता कि अपने आत्मा में दीर्घकाल तक स्थिर हो सके तब तक अशुभ भावो से बचने के लिये और शुद्धभाव व स्वानुभव को प्राप्त करने के लिये पंच परमेष्ठियो का जप व ध्यान उनके वाचक मंत्रो के द्वारा करता है। जहाँ मंत्रो का जोर से व धीरे से कह कह कर एक सौ आठ दफे व अधिक व कम अभ्यास किया जावे उसको जप कहते है। जब किसी मंत्र को मस्तक पर भौंह की लता के बीच में नाक की नोक पर हृदय मे कंठ आदि स्थलो पर विराजमान करके उसमे चित्त

पो रोका जावे और कभी कभी पच परमेष्ठियो के सबके या किसी एक के गुणो का मनन किया जावे तो उसको ध्यान कहते है। ऐसे जप व ध्यान मे भाव शुभ राग सहित होता है। इससे बहुत अधिक साता वेदनीय आदि पुण्य कर्म का बध होता है, जिनमे स्थिति कम पडती है, परन्तु अनुभाग अधिक पडता है। साता वेदनीय के बध के कारणो को तत्वार्थसूत्र मे कहा है —

भूतव्रत्यनुकम्पादान सराग सयमादि
योग क्षाति शौचमिति सद्वेद्यस्य।

अर्थ–हे निर्वाण मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति हे परमात्मन्! डोरा से पोही माला ज्यादा मोतियो की अपेक्षा से अलग अलग दिखती है और अपने में रहने वाले प्रकाशमान मोतियो की अपेक्षा से एक ही दिखती है,अनेक नहीं। विचारपूर्वक देखा जाय तो इसी प्रकार यह जीव द्रव्य गुण और पर्याय की अपेक्षा से अलग अलग दिखता है और चैतन्य गुणो की अपेक्षा से अभिन्न दिखता है अर्थात् एक ही है। इस प्रकार आपने अज्ञानी जीवो को सरल तथा श्रेष्ठ विचारो के द्वारा जीव द्रव्य के स्वरूप को समझाया ॥३॥

भावार्थ–जैसे डोरे से गुंथी हुई अनेक मोतियो की माला उस के अंदर रहने वाले मोतियो को देखने वाले को अलग अलग मालूम पड़ती है, परन्तु जब उसकी काति मोतियो से बाहर झलकती हुई उछल उछल कर चारो ओर फैल जाती है, उस समय अलग २ न दीखकर एक ही मालूम पड़ती है। उसी प्रकार यह चैतन्य गुणात्मक जीवात्मक पर्यायो की अपेक्षा नाना रूप वाला होकर एकेन्द्रिय दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, और पाच इन्द्रिय पर्यायों को अलग अलग भावों मे धारण करता है। कभी मनुष्य पर्याय में जन्म लेकर बाल तरुण वृद्धावस्था को प्राप्त होता है। तब बाल अवस्था मे बालक कहलाता है, शिशु कहलाता है। जब तरुण अवस्था को प्राप्त होता है, तब युवा कहलाता है, योद्धा कहलाता है। वाणिज्य व्यापार उद्योग करते समय व्यापारी कहलाता है। सेठ साहूकार श्रीमंत इस प्रकार नाम धराता है। जब वृद्धावस्था मे प्रवेश करता है, तब वृद्ध बूढ़ा, खोखा इत्यादि नामों से पुकारा

जाता है। कभी देवगति को प्राप्त होता है तब देव कहलाता है। देवेन्द्र, इन्द्र कहलाता है, प्रतीन्द्र कहलाता है, कभी सौधर्मेन्द्र अहमिन्द्र कहलाता है। जब नरक मे जाता है, तब नारकी कहलाता है, जब तिर्यञ्च मे गमन करता है, तब तिर्यंचव पशु होकर बैल कहलाता है, घोडा,गधा, गाय, बकरी, बकरा, हाथी, सिंह, इत्यादि अनेक नामो को धारण कर लेता है। इस प्रकार इन पर्यायो को धारण कर भिन्न भिन्न नामो से जाना जाता है। ऐसे समय यह जीव नाना दु खो को सहते हुये चतुर्गति हिंडोले मे झूलते हुये अपने आपको भूलकर पर मे रमण करता है। कहा भी है—

विन्मूत्र पूरिते भीम पूति श्लेष्म वसाकुले।
भूया गर्भगृहे मातुदेववाद्याताऽसि सस्थित. ॥

इस भयानक ससार मे घूमते हुये कभी इस जीव ने मन्द कषाय से मानव आयु बाध ली तो यह मनुष्य गति मे आकर माता के गर्भ मे नौ मास तक उलटा टगा रहता है। वह गर्भ ग्रह नरक के समान है, मल मूत्र से भरा हुआ है। पीप, कफ, चरबी से पूर्ण है, कृमियो से भी भरा हुआ है। ऐसे स्थान मे इस जीव को उल्टा टगना पड़ता है, माता के आहार से इसका पालन होता है। मनुष्य गति मे आने के पहले नौ मास गर्भ मे रुकते समय बडा कष्ट सहना पडता है, फिर जन्मते हुए घोर कष्ट होता है। जन्म के बाद मानव गति के भी दु ख भयानक हैं। इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग तथा तृष्णा के दु ख अधिकाश जीवो को होते है। इसके सिवाय रोगादिक व दरिद्रता व इच्छित वस्तु न पाने इत्यादि के

बडे बडे कष्ट होते है।

तिर्यंगतौ च यद् दु.खं प्राप्तं छेदन भेदने।
न शक्तस्तत्पुमान वक्तुं जिव्हा कोटिशतैरपि ॥

पशुगति मे एकेन्द्रिय स्थावरों को छेदने भेदने से होने वाले दु ख कहे नही जा सकते। उनको पराधीन रहना पड़ता है विकल त्रय जीव गर्मी सर्दी भूख प्यास से व मानवो के अनेक अत्याचारो से बड़े-बडे कष्ट पाकर पीड़ित होते है। पंचेन्द्रिय सैनी पशु मारन ताडन, अधिक भार लादने, कठोर वचन के प्रहार से, सबल द्वारा सताये जाने से दु:ख पाते है।

इस प्रकार यह जीव नाना पर्यायो को धारण करते हुए तथा नाना योनियो, जातियो, कुलो को धारते हुए दु ख सहता है। किन्तु कभी आत्म स्वरूप का स्मरण नही आता। फलत. 'पुनरपि जनन, पुनरपि मरणं, पुनरपि जननी जठरे शयन' इस कहावत के अनुसार पुनः पुनः जन्म मरण करते हुये एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय योनियो मे बार बार पैदा होता है। कहा भी है:—

चतुरशीतिलक्षेषु योनीनां भ्रमता त्वया।
प्राप्तानि दु ख शल्यानि नाना काराणि मोहिना ॥

जातियो की संख्या ८४ लाख है। शरीरादिक के मोह के कारण यह जीव कर्म बांधकर पाप पुण्य के अनुसार अच्छी या बुरी योनि में जन्म लेता है। वहाँ जो इस जीव ने दु:ख उठाये है वे कथन मे नही आ सकते है। हरएक योनि मे जन्म से ही तृष्णा का रोग तो होता ही रहा, इष्ट वियोग हुआ ही, अनिष्ट संयोग

भी हुआ, जन्म मरण के दु ख भी हुए ? इस जीव ने अपने आत्मा को न जानकर व सम्यग्दर्शन को न पाकर ससार मे महान् दु ख उठाये है । योनियो की सख्या ८४ लाख है—नित्य निगोद ७ लाख, इतर निगोद ७ लाख, पृथ्वीकायिक ७ लाख, जलकायिक ७ लाख, अग्निकायिक ७ लाख, वायुकायिक ७ लाख, प्रत्येक वनस्पति १० लाख, दो इन्द्रिय २ लाख, तीन इन्द्रिय २ लाख, चार इन्द्रिय २ लाख, देव ४ लाख, नारकी ४ लाख, पचेन्द्रिय तिर्यंच ४ लाख, मनुष्य १४ लाख । कुल ८४ लाख योनियो मे इस जीव ने भ्रमण किया । यह प्राणी विषयो की आसक्ति मे इतना फँसा हुआ है कि रात दिन पाचो इन्द्रियो के योग्य पदार्थों की लालसा रखता हुआ उनकी चाह की दाह मे जला करता है ।

वार-वार ससार मे नाना प्रकार के कष्ट भी पाता है तो भी विषयानुराग को नही छोडता है । इसकी बुद्धि ऐसी मन्द हो गई है कि सच्चा सुख जो अपनी आत्मा ही मे है और जो परम शाति दाता है, उसकी तरफ दृष्टि पात नही करता है । भवसागर मे गोते लगाता हुआ तडफता है ।

सन्त्येव कौतुकशतानि भवन्तु किन्तु,
विस्मापक तदलमेतदिह द्वय न ।
पीत्वाऽमृत यदि वमन्ति विसृष्टपुण्या',
सप्राप्य सयमनिधि यदि च त्यजन्ति ॥

अर्थ—जग मे आश्चर्यकारी बहुत सी वाते है व सदा होती है । परन्तु हम उन्हे देखकर भी आश्चर्य नही मानते, और असली

आश्चर्य उनमें है ही नही । वस्तुओ का जो परिवर्तन कारण पाकर होने वाला है वह होगा ही । उसमें आश्चर्य किस बात का । हाँ, ये दो बाते हमको आश्चर्ययुक्त जान पड़ती हैं । एक तो यह कि, अति दुर्लभ अमृत को पीकर उसे उगल देना, दूसरी यह कि संयम की निधि पाकर उसे छोड देना । जो ऐसा करते हैं, वे भाग्यहीन समझने चाहिए ।

भावार्थ—जो अति मूर्ख होगा, वही अमृत मिलने पर भी तथा उसे पी लेने पर भी फिर उगलेगा । लोग यह समझते है कि अमृत पी लेने से फिर मृत्यु पास नही आती । जब मरण नही तो बुढ़ापा क्यो आवेगा वस अमृत पीने वाला मनुष्य सदा आनन्द में मग्न रह सकता है । उसे कभी किसी प्रकार की आपत्ति, क्लेश सहने नही पडते । जब कि अमृत की यह बात है तो संयम तो सर्वथा ही कर्मादि दु ख कारणो का निर्मूल नाश करने वाला है ।

इसलिए संयम निधि को पाकर जो छोड़ना चाहता है वह तो बहुत ही बडा मूर्ख है । उसकी इस अज्ञानपूर्ण कृति पर जितना आश्चर्य हो उतना ही थोड़ा है । उसके बराबर जग में भाग्यहीन और कौन होगा ? इस आश्चर्य से बड़ा आश्चर्य और क्या होगा । वस्तुत' तप व संयम से ही नित्य सुख प्राप्त होता है । इसलिए तप व संयम को कभी छोडना नही चाहिए ।

अपेक्षा भेद से जीव में भिन्नत्व, अभिन्नत्व और भिन्नाभिन्नत्व है ।

केन्नं द्रव्यतेविंदं भिन्ननेमरुन्मर्त्या द पार्यायदिं ।
भिन्नंदर्शन बोध मुख्य गुणसंदोहंगळिं नोड़ेतां ।।
भिन्ना भिन्नने निवकुमात्मनेनितुं निन्नुक्ति.यिं निन्नवो ।
लुतन्नं भाविसुवंगे मुक्तियेंदरिपदे निर्वाण लक्ष्मीपती ! ।।४

अर्थ—निर्वाण लक्ष्मी के अधिपति हे परमात्मन् !

यह जीव विशेषकर द्रव्य की अपेक्षा से अभिन्न है, और देव मनुष्य आदि पर्यायो की अपेक्षा से अनेक भेद वाला है, तथा ज्ञान दर्शन मनुष्य इत्यादि गुण पर्याय समुदाय की अपेक्षा से भिन्न और अभिन्न है, इस प्रकार हे भगवन् ! आपके द्वारा उपदिष्ट आत्मस्वरूप को आपके ममान ही भावना करने वाले भक्त प्राणी को क्या मोक्ष प्राप्ति दूर है ? अर्थात् नही है ।।४।।

विवेचन—द्रव्य की अपेक्षा से यह जीव अभिन्न है और देव मनुष्यादि पर्यायो को अपेक्षा से अनेक भेद वाला है। समयसार कलश मे कहा है कि

वर्णाद्यो वा रागमोहादय वा भिन्ना भावा सर्व एवस्य पुंस ।
तेनैवान्त सत्वत पश्य्तोऽमी दृष्टा स्यु दृष्टमेकंपर स्यात् ।।

इस आत्मा के स्वभाव से वर्णादि गुण, राग मोहादि ये सब भाव भिन्न हैं। इस कारण यदि निश्चय से आत्मा के भीतर देखा जाये तो इनमे से किसी का भी पता न चलेगा । एक उत्कृष्ट शुद्ध स्वरूप ही दिखलाई पडेगा। इस तरह मै सिद्ध के समान परम शुद्ध निरजन देव हूँ, केवल निराला एक आत्मा हूँ। मेरे मे सर्व

ही पर का अभाव है। ऐसा स्याद्वाद नय से जानकर केवल अपने शुद्ध स्वभाव का ही ध्यान या अनुभव करना योग्य है। देवसेन आचार्य ने अपने तत्वसार मे कहा है कि—

अत्थित्ति पुणो भणिया णएण ववहारि एणए सव्वे।
णोकम्म कम्मणाहि पज्जाया विविहभेयगया ॥

अर्थ--व्यवहार नय से विविध प्रकार की भेद वाली नो कर्म और कर्म की पर्यायें हुआ करती हैं, इस कारण उनको जीव की पर्यायें कहते है।

यानी--संसारी जीव के कर्म बन्ध के कारण मनुष्य पशु देव नारकादि पर्यायें होती है। वे पर्यायें व्यवहार नय से जीव की कही गई है।

ये जीव द्रव्य अपेक्षा से अभिन्न और देव मनुष्य आदि पर्यायो की अपेक्षा से भिन्न प्रतीत होता है। ज्ञान, दर्शन आदि गुण और मनुष्यादि पर्याय समुदाय की अपेक्षा से भिन्न अभिन्न है। ऐसे आपके उपदेश से अपने स्वरूप की जो आपके समान भावना करता है, उसको मोक्ष की प्राप्ति होती है। जब तक केवल व्यवहार नय का अवलम्बन लेता है तब तक इस जीव को निश्चय आत्म सुख की प्राप्ति नही होती है। इसलिए आचार्य ने समझाया है कि इस आत्मा को अपने स्वभाव में स्थिर करके परभाव में भ्रमण कराने वाले रागादि निमित्तो को दूर करना चाहिए। इस राग परिणति रूप शुभाशुभ भावों को त्यागकर जब वहा ज्ञानी आत्मा अपने अन्दर स्थिर होकर अपने अन्दर ही उसका

अनुभव करने लगता है और अनुभव करके उसमे लीन हो जाता है, तब उसको बाह्य वस्तु पर वस्तु दिखती हुई न दिखने के समान मालूम होती है । तब वह जितना जितना अपने आत्म स्वरूप मे लीन होता है उतनी उतनी बाह्य पदार्थो के रागद्वेष की भावना छूट जाती है। इसके बारे मे कुन्दकुन्द आचार्य ने भी पचास्तिकाय मे कहा है कि—

जो संवरेण जुत्तो अप्पट्ठे पसाधगो हि अप्पाण।
मुणिऊण झादि णियद णाण सो सधुणोदि कम्मरय ॥१५३॥

विशेषार्थ—जो कोई शुभ व अशुभ रागादिरूप आस्रव भावो को रोकता हुआ सवर भाव से युक्त है तथा त्यागने योग्य वा ग्रहण करने योग्य तत्व को समझकर अनेक प्रयोजनो से अपनेक हटाकर शुद्धात्मानुभव रूप केवल अपने कार्य का साधने वाला है व जो सर्व आत्मा के प्रदेशो मे निर्विकार, नित्य एक आनन्दमयी एक आकार मे परिणमन करते हुए आत्मा को रागादि भावो से रहित स्वसवेदन ज्ञान के द्वारा जानकर निश्चल आत्मा की प्राप्ति रूप निर्विकल्प ध्यान से निश्चल गुण गुणी के अभेद से विशेष मे विज्ञान मे परिणमन स्वरूप ज्ञानमई आत्मा को ध्याता है सो परमात्म ध्यान का ध्याने वाला कर्म की निर्जरा करता है वास्तव मे ध्यान ही निर्जरा का कारण है, ऐसा इस सूत्र व्याख्यान किया गया है।

भावार्थ इस गाथा मे आचार्य ने आत्मध्यान को ही ... मे कर्म की निर्जरा का कारण बताया है । वास्तव मे जो मे

।अर्थी जीव संसार वृद्धि के कारणभूत मिथ्यात्व, अविरति, ।द, कषाय आदि से विरक्त होकर अपने चित्त मे यह दृढ़ ।रूप कर लेता है कि मुझे आत्मा की उन्नति करनी है वह । तथा व्यवहारनयो से आत्मा के स्वरूप को समझकर ना व नि.शक हो जाता है। फिर भेद विज्ञान के प्रताप से से दूध पानी की तरह मिले हुए आत्मा को सर्व अनात्माओ सर्व कर्मजनित अशुद्ध भावो से तथा सर्व अन्य आत्माओं से जुदा निश्चयनय के आश्रय से आत्मा का केवल असहाय शुद्ध ।रूप ध्यान में लेकर ध्याता है। अर्थात् अपने आत्मा के यथार्थ ।न में एकाग्रता पा लेता है। वह वीतरागी होता हुआ मोक्ष मार्गमयी अभेद रत्नत्रय मे तन्मय होकर अपने शुद्ध भावो की ।हिमा से बहुत अधिक कर्मों की निर्जरा कर देता है।

विशेषार्थ—यद्यपि यह जीव शुद्ध निश्चयनय से विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव का धारी है। तथापि व्यवहारनय से अनादिकाल से बन्ध मे होने के कारण यह जीव अपने ही अनुभवगोचर अशुद्ध ।ाव करता है। इस अशुद्ध भाव से कर्मों से रहित व अनन्तज्ञानादि ।ुणमई आत्मा के स्वभाव को ढकने वाले पुद्गलमई ज्ञानावरण ।दि कर्मो को बाधता है। इन कर्मों के उदय से आत्मा की प्राप्ति रूप पंचमगति मोक्ष के सुख से विलक्षण देव, मनुष्य, नरक, तिर्यंच इन चार गतियो में से किसी में गमन करता है। वहा शरीर रहित चिदानदमई एक स्वभाव रूप आत्मा से विपरीत किसी स्थूल शरीर की प्राप्ति होती है। उस शरीर के द्वारा अमूर्त अतीन्द्रिय

परमात्म स्वरूप से रहित शुद्ध आत्मा के ध्यान से उत्पन्न जो वीतराग परमानंदमई एक स्वरूप सुख है उससे विपरीत पंचेन्द्रिय के विषय सुख मे परिणमन होता है। इसी के द्वारा रागादि दोष रहित व अनन्त ज्ञानादि गुणो के स्थानभूत आत्म तत्व से विलक्षण राग और द्वेष पैदा होता है। रागद्वेष रूप परिणामो के निमित्त से फिर भी पूर्व के समान कर्मों के वन्ध का जो परस्पर कार्य कारणभाव है वही पुण्य पाप आदि पदार्थोंका कारण है ऐसा जानकर संसार चक्र का विनाश करने के लिए अव्याबाध अनन्त सुख आदि गुणो के समूह अपने आत्मा के स्वभाव मे रागादि विकल्पो को त्यागकर भावना करनी योग्य है। यह जीव किसी अपेक्षा परिणमनशील है। इसलिए अज्ञानी जीव विकार रहित स्वसंवेदन ज्ञान को न पाकर पाप पदार्थ के आस्रव और वध का कर्ता हो जाता है।

कारण तीर्थंकर प्रकृति आदि विशेष पुण्य प्रकृतियो को बिना इच्छा और निदान परिणाम के बाध लेता है। इन प्रकृतियो का बंध भविष्य में भी पुण्य बंध का कारण है। इस तरह वह पुण्य पदार्थ का कर्ता होता है। इस प्रकार से अज्ञानी जीव पाप, पुण्य, आस्रव व बन्ध इन चार पदार्थों का कर्ता होता है तथा ज्ञानी जीव संवर, निर्जरा व मोक्ष इन तीन पदार्थो का मुख्यपने कर्ता है ऐसा भाव है।

विधिर्निषेधश्च कथंचिदिष्टौ विवक्षया मुख्य गुण व्यवस्था।
इति प्रणीति. सुमतेस्तवेयं मतिप्रवेक. स्तुवतोऽस्तु नाथ ॥

वस्तु मे अस्तित्व नास्तित्व, भाव अभाव, नित्य अनित्य ऐसे विरोधी स्वभाव तो पाए ही जाते है, परन्तु वे सब भिन्न-भिन्न अपेक्षा से होने पर कोई विरोध नही रहता है। जैसे किसी मानव को पिता और पुत्र दोनो ही माना जावे। ये दोनो विरोधी सम्बन्ध उस मानव से भिन्न अपेक्षा से हैं। यह अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है व अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है। कोई विरोव की बात नही है। इसी तरह नास्तिरूप अभावरूप व अनित्य है। दूसरे को दोनो स्वभाव समझाने का मार्ग यही है। जैसा कि उमास्वामी आचार्य ने तत्वार्थ सूत्र में कहा है, 'अर्पितानर्पित सिद्धे.' जिस वस्तु को कहना हो उसको मुख्यता से कहा जावे व जिसको न कहना हो उसको गौण कर दिया जाय यही अनेकात है। स्यात् अर्थात् कथचित् बाद। वस्तु स्यात् भावरूप है, वस्तु स्यात् अभावरूप है। अर्थात् वस्तु कथंचित् किसी पर्याय के पलटने की अपेक्षा से

अभावरूप है और वर्तमान पर्याय की अपेक्षा वह भावरूप है। इस प्रकार श्री जिनेन्द्र भगवान की वाणी इसी तरह अनेकांत मत का प्रकाश करती हुई बाधा रहित पदार्थ को यथार्थ बता देती है। जैसे आप्तपरीक्षा में कहा भी है—

वाक्येष्वनेकांतद्योती गम्यन्प्रति विशेषक ।
स्यान्निपातोऽर्थ योगित्वात्तव केवलिनामपि ॥

ये शरीर धारण करेगा। तब जैसा शरीर होता है वैसा नाम भी व्यवहार किया जाता है । परन्तु इन सर्व अनन्तानन्त पर्यायो मे जीव जीवरूप ही है,एक रूप ही है। स्वभाव का नाश नही हुआ, केवल इस पर परदा या विकार हो गया है।

एवमय कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव ।
प्रतिभाति वालिशाना प्रतिभास. स खलु भव वीजम् ॥

सार यह है कि यह जीव निश्चय से कर्मो के द्वारा होनेवाली अवस्थाओ को मूल मे नही रखता है तो भी अज्ञानियो के ऐसा ही झलकता है कि यह जीव ऐसा ही है। यही अज्ञान ससार का बीज है। जो कोई मैले पानी को पानी का स्वभाव मान लेगा, वह कभी भी निर्मली डालकर पानी को साफ नही करेगा । उसे शुद्ध पानी का स्वाद नही आवेगा । कर्मों के सयोगवश नाना प्रकार जीव की अशुद्ध अवस्थाओ को जीव की स्वाभाविक पर्याये मानना ही मिथ्यात्व है । ये अवस्थाये अकेले शुद्ध जीव की नही है । जीव स्वभाव से शुद्ध गुण पर्यायो का धारी है ऐसा मानना ही सम्यक्त्व है। यही मुक्ति का बीज है । इस प्रकार हे जीव ! तू हमेशा व्यवहार नय को हेय मानकर शुद्ध निश्चय नय के द्वारा द्वन्द भाव से रहित एकत्व शुद्ध आत्मस्वरूप का भेद रहित भावना से चिन्तन कर और अनादि कर्म संताप को मिटाने का प्रयत्न कर। तू जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे हुए सार को ग्रहण कर, आत्म तत्व का विचार कर, यही आत्म तत्व है ।

एन्नं तत् परमात्मनं नेनेयलानु शक्तियिं व्यक्तियिं ।
केन्नं भव्यतेयिंद मागदिरदे़अगिन्नदप्पल्लिगं ।।
तन्नं तानृरिदन्यर्दि तोलगिं तन्नोळ् निल्वनुष्ठानमु ।
च्छिन्नं कारण मक्कुमें दरिपदै निर्वाण लक्ष्मीपती ! ।।५

अर्थ—मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति हे सिद्ध परमात्मन् !

आत्म सुख की या मोक्ष सुख की इच्छा करने वाले भव्यज्ञानी जीव को अपनी शक्ति को प्रगट करने से अपने गुणो की और उस परमात्मा को स्मरण करने से विशेष रूप से उस आसन्न भव्य को आपके गुणो की प्राप्ति नही होगी । अपने आप ही भावना करने से आत्म-सिद्धि होती है। इसलिए अपने स्वरूप को आप ही जानकर पर वस्तुओ के ममत्व को छोडकर, जो अपने स्वरूप मे आप ही रत होकर उसमे रमण करता है और उसी को पान करने योग्य परम रसायन मानता है, वही आत्म ध्यानी आत्म ध्यान करने योग्य है तथा वही आचरण आत्म ध्यान मे कारण है। ऐसा आपने संसारी जीवो को समझाया है।।५।।

विवेचन—मोक्ष की इच्छा करने वाले ससारी जीव को चाहिये कि पहिले अपने आत्म सुख के लिये व्यवहार सम्यक्त्व का आचरण करे। सच्चे देव गुरु शास्त्र इन पर श्रद्धा रखना, पूजा भक्ति करना, चारो प्रकार का दान देना और अरहत भगवान की पूजा करना, उनका ध्यान करना, यह सभी व्यवहार धर्म है। जो व्यवहार धर्म सम्यग्दर्शन पूर्वक किया जाता है,वह कर्मो की निर्जरा

का कारण होता है । उसमें जितना अंश शुभ राग का होता है उससे उतना पुण्य बध हो जाता है और उसमें जितना आरंभ होता है या अशुभ रागाश होता है, उतना पाप बध होता है। किन्तु वस्तुत: सम्यग्दर्शन पूर्वक किया गया व्यवहार धर्म परम्परया मोक्ष का ही कारण होता है । साधारणत: यह पुण्य के लिए कारण है। वह इन्द्र देवेन्द्र चक्रवर्त्यादि पद को देने वाला होने पर भी संसार वृद्धि का कारण है। और इन्द्रिय सुख को बढ़ाने वाला है। बार बार जन्म मरण को प्राप्त करने वाला है। और मात्र पुण्य को देने वाला है। इसमे आत्म-सिद्धि नही है, भले ही पुण्यानुबंधी पुण्य हो, वह भी राग और ममत्व को बढ़ाने वाला है, लोभ वासना को उत्पन्न करने वाला है। और वह परिग्रह जीवात्मा के लिए चारो गतियो मे भ्रमण करने के लिए निमित्त कारण है। कहा भी है—

निर्ममत्वं परं तत्व निर्ममत्वं परं सुखम् ।
निर्ममत्वं परं बीजं मोक्षस्य कथितं बुधै. ।।

जिसने सर्व पदार्थों से ममता छोड़ दी है, इन्द्र धरणेन्द्र चक्रवर्ती आदि के भोग आकुलता के कारण समझकर जिसने त्याग दिये हैं, वह महात्मा अपने आत्मा में लीन व मुक्ति का प्रेमी हो जाता है। अतएव वह सर्व ममत्व से रहित होकर परमात्म तत्व का भले प्रकार अनुभव कर सकता है। इस स्वात्मानुभव से अतीन्द्रिय उत्तम सुख को भोगता है यही मोक्ष का सच्चा उपाय है। जब कि चंचल वस्तुओ से वीतराग होगा तभी निज आत्मिक

आनन्द से प्रेम होगा । सुख का कारण एक निर्ममत्व भावना है। मोहरहित जीव ही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। वस्तुत ममत्व रहित होना ही परम तत्व है, यही परम सुख है और यही मोक्ष का निमित्त है। ममत्व ही ससार है। संसार स्त्री, पुत्र, मकान जायदाद आदि का नाम नही है । इनके रहते हुए भी यदि व्यक्ति इनसे उदासीन रहता है तो वह ससार मे आसक्त नही कहलाता। किन्तु यदि धन, स्त्री, पुत्र न रहने पर भी व्यक्ति के मन मे ममता है तो वह ससार मे आसक्त कहलाता है। ममत्व छोडकर ही व्यक्ति ससार मे निज भी कहलाता है और वही फिर आत्म-ध्यानी बनने का पात्र बनता है।

आत्म-ध्यान की प्रेरणा—

तम्मा अभव्वसया भुतूण राय दोस वा मोहो ।
झायउ णिय अप्पण जइ इच्छ सासए सुक्ख ।।

इसलिये तुम यदि अविनाशी और अतीन्द्रिय सुख को चाहते हो तो राग द्वेष मोह को छोड कर सदा अभ्यास पूर्वक अपने ही आत्मा का ध्यान करो।

भावार्थ—इस काल मे धर्म ध्यान भली प्रकार हो सकता है। ऐसा निश्चय करके हर एक श्रद्धावान गृहस्थ या साधु को, नर या नारी को उचित है कि अपने ही आत्मा के भीतर विराजमान जो सच्चा आत्मिक अविनाशी सुख है, उसका स्वाद लेने का उत्साह करे। परम धर्मानुरागी होकर अपने ही शुद्धात्मा को और उपयोग को स्थिर करने का या स्वानुभव करने का अभ्यास करे। आत्म-

ध्यान की प्राप्ति के लिये ज्ञान व वैराग्य की जरूरत है। आत्मा व अनात्मा का सच्चा भेद विज्ञान होना यह सम्यक् ज्ञान है। मन में ऐसी भावना होनी चाहिये कि मै आत्म द्रव्य हूँ, सबसे भिन्न एकाकी हूँ, अपने ज्ञानानन्द आदि गुणो का अखंड पिण्ड हूँ। द्रव्य संग्रह में कहा है—

मा मुज्झई मा रज्जइ इट्ठ णिट्ठ अत्थेसु।
थिर मिच्छइ जह चित विचित झाणप्प सिद्धीए॥

हे भाई! यदि तू नाना प्रकार ध्यान की सिद्धि के लिये मन को स्थिर करना चाहता है तो इष्ट व अनिष्ट पदार्थो मे मोह मत कर, राग मत कर तथा द्वेष मत कर। सव विश्व को समभाव से देखकर समभावी हो।

राय दिया विभाव वहिरंतर उह वियप्प मुत्तूणं।
एयग्गमणो झायहि णिरंजणं णियय अप्पाणं॥

ध्याता को उचित है कि निश्चयनय की दृष्टि से सर्व आत्माओं को समान शुद्ध देख करके रागद्वेष मोहादि भाव को छोडो तथा निर्विकल्प होने के लिये वाहरी पुत्र, मित्र देश, ग्राम, शिष्य, मन्दिर, तीर्थं आदि के विचारो के भीतर ज्ञान के मति श्रुत आदि भेदो को अथवा आत्म गुणो के चितवन को छोडो। निश्चयनय के वल से अभेद एक अखंड आत्मा को अपने उपयोग के सामने लावो मन को उसी निज स्वरूप मे ही छोड दो। अर्थात् मन को एकाग्र करलो। इस तरह कर्मादि मल से रहित निज आत्मरूपी देव का ध्यान करो।

ध्यान स्थिरता को कहते है। अपने आत्मा मे स्थिरता पाने के लिये आत्मा के अशुद्ध निश्चय स्वरुप की भावना उपकारी है। भावना करते करते मन जब यकायक स्थिर हो जावे तब ध्यान या अनुभव पैदा हो जाता है। यह ध्यान उत्तमोत्तम सहनन वाले को अन्तर्मुहूर्त से अधिक नही रह सकता है। तब हम हीन संहनन वालो को यदि वहुत अल्प समय रहे तो कुछ अलाभ नही मानना चाहिये, भावना वहुत देर तक रहती है, ध्यान वीच २ मे कुछ समय तक रह सकता है। आत्मा निरजन है।

शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा अपने ही आत्मा को ध्यान मे विचारता है। जो मूल द्रव्य अपने स्वभाव को लक्ष मे लेवे उस ही को निश्चय कहते है। उसकी अपेक्षा से यह आत्मा पूर्ण मल रहित है (शरीर रहित है, रागादि भावो से रंहित है, परम शुद्ध चैतन्य स्वरुप है निरजन है। किसी प्रकार का अजन या मल आत्मा मे नही है, न इसमे क्रोध मान माया लोभ कषाय है, न कोई हास्यादि नोकषाय है । यह सब मोहनीय कर्म के उदय का परिणाम है,रस है। कलुषपना हे, जीव के स्वभाव मे इनका पता नही लगता है माया मिथ्या निदान ये तोन शल्य या काटे भी मोहनीय कर्म के विपाक है। आत्मा के निज मूल स्वभाव मे इन का कोई स्थान नही है।

कृष्ण, नील, कापोत, तीन अशुभ व पीत, पद्म, शुक्ल तीन शुभ लेश्याए भी आत्मा के स्वभाव मे नही है। ये भावो के रंग के दृष्टान्त है। मन वचन काय के अनुकम्पन से योग का परिणामन

होता है और वह योग जब कषायो के रंग में अधिक या कम रंग जाता है तब उसे लेश्या कहते हैं।

इस लेश्या के अनुसार ही जीव आयु कर्म और गति नाम कर्म बांधता है और लेश्या के अनुसार एक आयु व गति को छोड़कर दूसरी आयु व गति में प्राप्त हो जाता है। मरण के अन्त में जो लेश्या हो, उसी लेश्या का सम्बन्ध दूसरी गति में अपर्याप्त अवस्था तक अवश्य चला जाता है। लेश्या आत्मा की योग शक्ति के परिणमन को कहते हैं जो परिणमन मन वचन काय की क्रिया के आलम्बन से कषायो के उदय के रंग से रंगा हुआ हो। वास्तव में लेश्या योग प्रवृत्ति और कषाय का उदय इन दोनो की मिली हुई अवस्था का नाम है। यद्यपि कषाय रहित के योग प्रवृत्ति कषायानुरंजित नही होती है तथापि योग प्रवृत्ति रहने से शुक्ल लेश्या सयोग केवली तक बताई है। अयोग केवली के न योग प्रवृत्ति है। न कषायो का उदय है। इसलिये वहा लेश्या का कुछ भी सम्बन्ध नही है। छ लेश्याओ मे कृष्ण, नील, कापोत ये तीन अशुभ है। जब कि पीत, पद्म और शुक्ल शुभ हैं। नारकी जीव तथा चार इन्द्रियो तक सब जीव तीन अशुभ लेश्या वाले ही होते है। पंचेन्द्रिय असैनी के कृष्ण से पीत तक चार लेश्याये रहती है। शेष पचेन्द्रिय सैनी मनुष्य तथा तिर्यचो के छहो लेश्याये होती हैं। देवो के पर्याप्त अवस्था मे पीत, पद्म लेश्या ही हैं। अपर्याप्त अवस्था में भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी के कृष्ण, नील कापोत तीन अशुभ लेश्या होती है। छहो लेश्याओ को एक

दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं।

एक वार कृष्णादिक छहो लेश्याओ वाले पथिक मार्ग भूल कर एक वन मे पहुँच गये। वहा फलो से लदा हुआ एक वृक्ष था। उसे देखकर सब अपने अपने ढग से विचार करने लगे। कृष्ण लेश्या वाला सोचने लगा, मैं इस वृक्ष को जड़ से उखाड डालूंगा और फल खाऊँगा। नील लेश्या वाला विचारता है कि मै इस वृक्ष के पेड या स्कन्ध को काटकर फल खाऊंगा। कापोत लेश्या वाला विचारता है कि मै इस वृक्ष की बडी२ शाखाओ को काट कर फल खाऊगा। पीत लेश्या वाला विचारता है कि मै इस वृक्ष की छोटी छोटी टहनियो को तोडकर फल खाऊगा। पद्मलेश्या वाला विचारता है कि मै वृक्ष से केवल फल ही तोड कर खाऊगा। शुक्ललेश्या वाला सोचता है कि मै उन फलो को ही खाऊँगा जो अपने आप टूट कर गिर पडे हो।

इस दृष्टान्त से छह प्रकार की लेश्या वाले जीवो के भावो का पता चलता है।

इन लेश्याओ के अशो से ही परभव के लिए आयुबंध होता है व इन्ही लेश्याओ को लिये हुए ही मर कर जहाँ उस लेश्या का होना सभव है वही यह जीव जाता है। छह लेश्याओ के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट ऐसे अठारह भेद है। इनमे जीव मरकर दूसरी गति को जाते है। इन्ही के मध्य मे आठ अश ऐसे है जिनमे आयु कर्म का बध होता है।

आयुकर्म का बध हर समय नही होता है। कर्मभूमि के

मनुष्य के लिए यह नियम है कि जितनी आयु को स्थिति हो, उसके दो तिहाई बीतने पर एक अन्तर्मुहूर्त के लिए पहला अवसर आता है इस मध्य मे यदि आयुबन्ध के योग्य मध्यम लेश्या के अश होते है तो आयु बधती है । यदि नही होते तो नही बधती है फिर शेष आयु मे से दो तिहाई भाग जाने पर दूसरो वार एक अन्तमुहूर्त के लिये अवसर आता है । इस तरह आठ वार अवसर आता है । इसको अपकर्ष काल कहते हैं । यदि आठ दफे मे आयु न बंधी तो मरण के अन्तर्मुहूर्त के पहले अर्थात् मरण काल के अन्तर्मुहूर्त के मध्य में ही आयु अवश्य बध जायगी ।

जब किसी अपकर्ष मे परभव के लिए आयु बाधली हो तब उसके आगे आने वाले अपकर्षो मे उस समय की लेश्या के अनुसार आयु की स्थिति कम व अधिक हो सकती है । दूसरी आयु नह बधती है । चार आयु मे से एक ही आयु का वध होता है ।

भोग भूमि के मनुष्य तिर्यंच अपनी आयु की स्थिति में नव मास रहने पर इसी स्थिति को आठ त्रिभागों के काल में ही आयु बाँधते है ।

अशुभतम कृष्ण है अशुभतर नील है । अशुभ कापोत है । जब कषाय मद होता है तब लेश्या कम होती है । शुभ पीत है, शुभनर पद्म है, शुभतम शुक्ल है । जन्म भी आत्मा मे नही है। स्थूल शरीर औदारिक वैक्रियक शरीर के वियोग को मरण कहते है, आत्मा के स्वभाव मे कोई खड या भेद नही है । आत्मा के टुकडे नही हो सकते । न आत्मा के भीतर ज्ञान दर्शन वीर्य

सुखादि गुणो के भेद है। वह अनन्त गुण पर्यायो का अखड पिण्ड है। न आत्मा के भीतर खड ज्ञान के भेद है। मति श्रुति अवधि और मन पर्याय खड व क्रमवर्ती ज्ञान है। आत्मा अखड अक्रम सर्वज्ञान का समूह है।

आत्मा के भीतर शरीर के छः प्रसिद्ध सस्थान नही है–समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमडल, स्वाती, कुब्जक, वामन, हुण्डक, ये छह संस्थान शरीर होते है। न आत्मा के कोई मार्गणाएं हैं, ससारी जीवो के भीतर कर्मो के उदय की अपेक्षा को लेकर विशेष जो अवस्थाए होती हैं उनको मार्गणा कहते है, ये अवस्थाये चौदह प्रकार की है।

(१) गति ४–नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव।

(२) इन्द्रिय पाच–एक इन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार-इन्द्रिय, पाच इन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण)

(३) काय ६–पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय।

(४) योग १५–सत्य मनयोग, असत्य मनयोग, मिश्र मनयोग अनुभयमनयोग, सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, उभयवचनयोग, अनुभयवचनयोग, काययोग, औदारिककाय, औदारिक मिश्र, वैक्रियक काय, वैक्रियक मिश्र, आहारक काय, आहारक मिश्र, कार्माणकाय, ये सात काययोग।

(५) वेद तीन–स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकयेद।

(६) कषाय पच्चीस–अनतानुबंधी क्रोध, मान माया लोभ,

प्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ, अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ,सज्वलन क्रोध मान माया लोभ। नौ नो कषाय–हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपु सकवेद।

(७) ज्ञान आठ—कुमति, कुश्रुति, कुअवधि, सुमति, सुश्रुति, सुअवधि, मन. पर्ययज्ञान, केवलज्ञान।

(८) सयम सात–असंयम, सयमासंयम, सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म सापराय, यथाख्यात।

(९) दर्शन ४–चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल दर्शन।

(१०) लेश्या ६—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल।

(११) भव्य २—भव्यत्व, अभव्यत्व।

१२) सम्यक्त्व ६—मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, मिश्र, उपशम, वेदक, क्षायिक।

(१३) संज्ञी २—सैनी, असैनी।

(१४) आहारक २- आहारक, अनाहारक।

आठ प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्मो के संयोगवश ये चौदह मार्गणाए है।

आत्मा के सहज स्वभाव मे इन दोनो–संस्थानो और मार्गणाओ का कोई काम नही है। वहा तो अखंड एक ज्ञायक भाव है। आत्मा के स्वभाव मे कोई गुणस्थान भी नही है। अशुद्धता को घटाते हुए क्रम क्रम से शुद्धता को प्राप्त होते हुए मोक्ष महल के ऊपर चढ़ने के लिये जो श्रेणियां–पद है उनको गुणस्थान कहते है। मोहनीय कर्म तथा योगो की अपेक्षा से इनके नाम पडे है

कहा भी है—

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावा सर्व एवास्य पुंस
तेनैवातस्तत्वत पश्यतोऽमी नो दृष्टा स्युर्दृष्टमेकं पर स्यात् ॥

भावार्थ—इस आत्मा के स्वभाव से वर्णादि गुणस्थानादि रागमोहादि ये सब भाव भिन्न हैं। इस कारण यदि निश्चय से आत्मा के देखा जावे तो उनमे से किसी का भी पता न चलेगा। एक उत्कृष्ट शुद्ध स्वरूप ही दिखलाई पडेगा। इस तरह मै सिद्ध के समान परम शुद्ध निरजन देव हूँ। मैं केवल निराला एक आत्मा हूँ। मेरे मे सर्व ही प्रकार अभाव है। ऐसा स्याद्वाद नय जानकर केवल अपने शुद्ध स्वभाव का ही ध्यान या अनुभव, अभ्यास करना योग्य है। ये ही भावना आत्मध्यान के लिये कारण है। इस प्रकार भगवान् ने कहा है कि हे भव्य ज्ञानी जीवात्मा! इस प्रकार तू भी भावना कर। ये ही आत्मध्यान का निशान है, ऐसी भावना भाकर अखण्ड निजात्म सुख को प्राप्त कर मोक्ष लक्ष्मी का अधिपति बन —

गुरुतां पेळ्दोड मेनो तत्वरुचि तन्निश्चायकत्व तदा।
चरण नेट्टने तन्नधीनमदरिद निश्चयापेक्षेयि ॥
गुरु वक्कुं वगेवडु ताने तनगेंवी युक्तियं युक्तियु।
त्करं चित्रुगे पेळ् द नीने गुरुवें निर्वाण लक्ष्मीपती! ॥६॥

अर्थ—भो निर्वाण मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति अरहत देव! गुरुओ ने सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का मार्ग भव्य जीवो के लिए

वताया है। यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो अपना आप गुरु है, अपने को अन्य कोई गुरु नही है, इस प्रकार आपने भव्य जीवो को फरमाया है परन्तु हे दयानिधि ! हे जिन परमात्मन् ! हमको आप ही गुरु है, अन्य कोई नही ॥६॥

विवेचन—परम्परा से भव्य जीवो के लिए गुरुओ ने जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र का उपदेश दिया है, यह सभी चीजे अपने पास ही है, अन्यत्र नही है।

जीव के साथ शरीरादि अजीव मिला हुआ है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। तव मात्र अपना जीव तत्व ग्रहण करने योग्य है और अजीव तत्व त्यागने योग्य है। त्यागने योग्य अजीव के ग्रहण का कारण बताने को आस्रव व उसी के ग्रहण का कारण बन्ध और उन कर्मो के रोकने के कारण को संवर और कर्मो के नाश का कारण निर्जरा तत्व वतलाया है। त्यागने योग्य अजीव के विलकुल छूट जाने को मोक्ष तत्व कहा गया है।

जैसे नोका पर पानी भर जावे तो वह जल मे डूबने लगती है, तब पानी को दूर करने की आवश्यकता पडती है। नोकापति जानता है कि छेद से पानी अदर भरा है। वह उस छेद को शीघ्र ही बन्द करता है। अनन्तर भरे हुए पानी को दूर करता है, तब वह सीधी अपने नियत स्थान को पहुंच जाती है। अजीव को दूर करने की आवश्यकता है। अजीव के आने का कारण आस्रव है। ठहरने को बन्ध कहते है। आने के कारण को रोकने को सवर व सग्रह प्राप्त अजीव के हटाने को निर्जरा कहते है। जब अजीव

विलकुल भिन्न हो जाता है, तब यह जीव मुक्त होकर सिद्धक्षेत्र से ऊर्ध्वगमन कर स्वभाव से चला जाता हे यह मोक्षतत्व है।

दूसरा दृष्टात-रोगी के भी विचार आसकता है। रोगी रोग से मुक्त होना चाहता है। वह रोग के होने के कारण को व रोग वढने को समझना है। रोग नया न वढे इसलिए रोग के मिटाने को औषधि खाता है। तव एक दिन रोग से मुक्त होकर स्वास्थ्य लाभ कर लेता है। सासारिक रोग को मिटाने का उपाय इन सात तत्वो का ज्ञान है। इस प्रकार परम्परा गुरुओ ने जीव अजीव के भेद वताते हुए, अन्त मे इन्ही सात तत्वो मे मुख्य एक जीव तत्व को ग्रहणकर छहो को त्यागना और केवल एक जीव-तत्व-आत्म स्वरूप का ध्यान करना यही सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का लक्षण वताया है।

परन्तु हे भगवन्! भव्य जीव के लिए आपने यह वताया है कि जीवतत्व अजीव मे भिन्न है। जीवतत्व का वास्तविक स्वरूप विचारा जाये तो यह विलकुल शुद्ध है। सिद्ध परमात्मा स्वरूप अपने शुद्ध पूर्ण ज्ञान, दर्शन वीर्य सुख आदि गुणो का धारी है, वर्णादि रहित अमूर्तिक है। लोकाकाश प्रमाण असख्यात प्रदेशी है। यह जीव अनेक साधारण और असाधारण गुण और स्व-भावो का अखड पिंड है। यही इसका द्रव्य स्वभाव है। यह सदा परिणमनशील है। समय समय अपने गुणो मे स्वाभाविक परिणमन करता है। यही इसका काल स्वभाव है। इस जीव मे जीवत्व ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि स्वभाव है। यही

इसका भाव स्वभाव है। यह जीव अपने ही द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा अस्तिरूप है, उसी समय इस जीव में अन्य अनन्त जीवो, अनन्त पुद्‌गलो, असंख्यात कालाणुओं, या आकाश का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव नहीं है। इसलिए उनकी अपेक्षा नास्ति रूप है। मैं केवल जीव हूँ, परवस्तु नहीं हूँ। अपने में अपना तत्व है। उसी सर्व पर का असत्व है, ऐसा भेदविज्ञानपूर्वक ज्ञान होने ही से अपने जीव के जीवत्व का ज्ञान होगा।

इसलिये हे जीव! तू ऐसा जान कि यह सभी अपने अन्दर ही होता है अतः आप ही अपना गुरु है, अन्य कोई नही।

और भी जो द्रव्य के अन्दर गुण है वे भी अपने अंदर ही हैं।

(१) अस्तित्व—अपनी सत्ता को सदा रखना। द्रव्य न कभी जन्मा है न कभी नाश होगा। वह अनादि अनन्त है।

(२) वस्तुत्व—प्रयोजन भूतपना। कोई द्रव्य निरर्थक नहीं है।

(३) द्रव्यत्व—सदा परिणमन करते रहना। यदि यह स्वभाव द्रव्य मे न हो तो उसके द्वारा कोई कार्य नही हो सकता।

(४) प्रमेयत्व – किसी के द्वारा जाना जाना। यदि कोई जानने वाले न हो तो उस द्रव्य का होना नही होना हो सकता है।

(५) अगुरुलघुत्व—एक ऐसा गुण जिसके कारण परिणमन करते हुये भी द्रव्य अपने स्वभाव को कम या अधिक नही कर सकता है। जितने गुण या स्वभाव जिस द्रव्य मे होगे वे सदा बने रहेगे उनसे न एक गुण बढ़ेगा न कोई गुण कम होगा।

(६) प्रदेशत्व – क्षेत्रपना हर एक द्रव्य का कोई आकार अवश्य

होगा। मूर्तिक-या अमूर्तिक आकार होगा।

ये छः सामान्य गुण जीवादि छहो द्रव्यो मे पाए जाते है। जीवतत्व के भीतर विशेष गुण जीव मे ही पाए जाते हैं। वे मुख्य रूप से दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व है। पुद्गल की अपेक्षा जीव मे अमूर्तत्व भी विशेष गुण है। सर्व जानने योग्य को जो जानता है वह ज्ञान है।

इस प्रकार ये सभी गुण अपने भीतर ही है, अन्य मे नही है। यह बात भव्य जीवो को आपने समझाकर कह दी है, परन्तु हे दया निधान! इस मोक्ष मार्ग या शुद्धात्मा का अनुभव करके स्वय आपही गुरु है, इस बात को समझाने के कारण हे भगवन्! हमको आप ही गुरू है। कहा भी है कि —

गुरुर्जनयिता तत्वज्ञानगर्भ सुसस्कृत ।
तथा तेनावतरितोऽसौ भव्यात्मा धर्मजन्मना ॥

गुरु पिता है, तत्वज्ञान सुसस्कृत गर्भ है, और उसमे धर्म रूपी जन्म से यह भव्यात्मा अवतार ग्रहण करता है।

जब गुरु के उपदेश से मिथ्यात्व तथा अनादि काल की अविद्या छूट जाती है तब गुरु चरणो के द्वारा मोक्ष मार्ग या निजात्म स्वरूप की प्राप्ति क्षण भर मे कर लेता है और ससार के बन्धनो से छुटकारा पाकर अखड सुख का स्थान पा लेता है। इसलिए निर्वाण लक्ष्मीपती सिद्ध परमात्मन्! भव्यात्मा ससारी जीव के लिये आप ही गुरु है।

पिरिदप्पोंदु वनातंराळदोळगिबिल्ला गिविंदिर्द्दसिंह ।
दुरदंती भवदोळ् स्वकर्म वशदिं बिर्दिर्द जीवनं ।।
परेत्तल्नेरेवन्न रापोंएर्दु तन्नं ताने सोत्साहना ।
दर्दिंदेत्तदो डेंबुदुं निजमतं निर्वाण लक्ष्मीपती ! ।।७।।

अर्थ—निर्वाण लक्ष्मीपति हे अरहंत भगवान् ! भयानक जगल के बीच मे सहायकहीन स्थान मे पड़े हुए हाथी के समान अपने कर्म वश होकर संसार रूपी जंगल मे भ्रमण करने वाले इस जीव का उद्धार करनेवाला या सहायता देने वाला कोई नही है। जैसे भयानक खाई या जगल मे पडे हुए हाथी को कोई उठाना चाहे तो उसका उठाना कठिन है। उसे अपनी ही शक्ति के द्वारा उठना पड़ता है। उसी तरह यह आत्मा महा घनघोर भयंकर संसार रूपी खाई मे पडने के कारण इसको अन्य कोई सहायता पहुँचा नही सकता। इसलिये यह आत्मा अपने बल के द्वारा प्रयत्न करके अपना आप ही उद्धार कर सकता है, अन्य कोई नही। इस प्रकार आपने जीवात्मा को समझाया है।।७।।

विवेचन—भगवान् का यह उपदेश है कि हे जीव ! जैसे सघन जंगल के बीच महान गड्ढे मे पडे हुए हाथी को उससे निकलने मे कोई सहायता नही पहुँचा सकता है। अगर वह अपने ही बल के द्वारा निकल कर ऊपर आने की कोशिश करेगा तो ऊपर आ सकता है, नही तो निकलने में सहायता नही मिल सकती है। इसी प्रकार अनादि काल से हे जीव ! तू संसार रूपी

सघन जगल के बीच मोह रूपी गड्ढे मे पड़ा है, कोई भी उसमे आकर तुझे सहारा नही पहुँचा सकता है। अगर तू स्वय ही अपने बल के द्वारा उद्यम करे तो तू इस महान मोह गर्त से निकल सकता है। इसलिए हे जीव ! तू शीघ्र ही उद्यम करके इस ससार रूपी सघन जगल से और मोह रूपी गर्त से निकल कर अपने स्थान मे पहुँच जा। तू दूसरे के भरोसे रहेगा तो कोई तुझे सहायता पहुँचाने वाला नही है। तू अपने कुटुम्ब परिवार वालो की आशा बिलकुल मत कर। कहा भी है कि--

शरणमशरण वा बधवो बधमूल ।
चिरपरिचित दारा द्वारमापद्गृहाणाम् ॥
विपरिमृशत पुत्रा शत्रव सर्व एते ।
त्यजत भजत धम निर्मल शर्मकामा ॥

भाव यह है कि जिसे हम शरण समझते है वे अशरण है, वे रक्षा नही कर सकते। जो बधु जन है वे बध के कारण है। चिरकाल से जानने मे आई स्त्री आपत्ति रूपी घरो का द्वार है और पुत्र है सो शत्रु है यह अच्छी तरह विचार करो। तब इन सभी को छोडो और सच्चे सुख की यदि वाँछा है तो निर्मल धर्म की आराधना करो।

अज्ञान की चिरकालीन वासना से यह अज्ञानी जीव शरीर को स्थिर मान लेता है। स्त्री पुत्रादि को अपना परम प्रिय मान लेता है। वस उसके मोह मे भूला हुआ अपने ऊपर क्या २ कष्ट आने वाले है उनको नही विचारता। कम से कम मरण तो आने

वाला ही है। पर उसका कुछ भी चिन्तवन नही करता।

पर की विपता देखता अपनी देखे नाहि।
जलता पशु जा बन विषै, जड तरुवर ठहराहि ॥

जब शिष्य फिर प्रश्न करता है कि भगवन्! इसका क्या कारण है जो निकट आई भी आपत्तियो को यह मनुष्य नही देखता है। तब गुरू कहते है कि हे वत्स! धन आदि पदार्थो से अतिशय गृद्धता होने से आने वाली आपत्ति को धनी लोग नही देखते है। जैसेकि—

आयुर्वृद्धि क्षयोत्कर्ष हेतु कालस्य निर्गमं।
वाछता धनिनामिष्टजीवितात्सुतरा धनम् ॥

इस श्लोक मे आचार्यो ने धनवानो से धन की भारी गृद्धता दिखलाई है। क्योकि धनवानो मे धन की ज्यादा गृद्धता रहती है, किन्तु वह है बहुत बुरी चीज। एक समय की बात है कि एक धनिक महाजन रहता था। लोग उसको हमेशा महाजन के नाम से पुकारा करते थे। उन्ही के घर मे एक नौकर रहता था। उसके मन मे यह भाव हुआ कि मै भी महाजन बनने की कोशिश करूं। ऐसे मन मे विचार कर एक दिन उसने अपने मालिक से पूछा कि मालिक! मै भी महाजन बनना चाहता हूँ। आप उपाय बता दीजिये। तब महाजन ने कहा—ठीक है। तब नौकर बोला—मेरे पास धन नही है, कहा से लाऊँ! आप ही दे दीजियेगा, मै आपके यहा चार पाच साल नौकरी करूंगा। तब महाजन ने कहा—ठीक है। तब नौकर ने महाजन के यहा चार पाच साल नौकरी की

और बाद मे कुछ रुपया जुटा करके कहने लगा कि अब मुझको महाजन बनना है। अब इन रुपये से खेती खरीद लूँ। तब वह सेठ साहूकारों से पूछने लगा कि मुझे सौ बीघा जमीन खरीदना है और मेरे पास पाच छ हजार रुपया है। कहिये सेठ साहब! यहां इतने रुपये मे कितना खेत मिलेगा? तब सभी सेठ लोगो ने कहा कि यहां मिलना बहुत मुश्किल है। अगर आप मारवाड प्रात मे चले जावो तो वहां जितना चाहिए, उतना मिल जायेगा। तब उन्होंने मारवाड प्रान्त मे जाकर किसी एक सेठ के पास जाकर जिकर किया कि मुझको पाँच हजार मे खेती खरीदनी है, पाच हजार रुपये मे कितने बीघा खेती आयेगी। तब सेठ ने कहा कि पाच हजार मे जितना तुम सवेरे से शाम तक चलोगे, उतनी खेती मिल जायेगी। यह बात सुनकर नौकर मन मे बड़ा खुश हुआ। दूसरे दिन अभी दिन निकलने मे कुछ समय बाकी था उस-ने जल्दी उठकर एकदम भागना शुरु किया। भागते भागते उनको खाने पीने की भी याद नही रही। बिचारा शाम तक दौड़ता ही रहा। अनन्तर दिन डूबने मे कुछ समय बाकी था तब सोचने लगा कि अगर मै इस समय धीरे धीरे दौड़ूगा, तो जमीन कम पड़ेगी। इसलिए इससे भी ज्यादा जोर से दौड़ना चाहिए। ऐसा समझकर दौडने लगा। रुपया कमर मे बधा था। बिचारा दिन भर भूखा रहने और दौड़ते रहने के कारण थक गया था। भूख प्यास के मारे बड़ा व्याकुल हो गया था। उसे कमजोरी अनुभव होने लगी। वह अत्यधिक थककर दौडते हुए ठोकर खाकर जमीन पर गिर

पड़ा। गिरते ही उसका प्राण पक्षी उड गया। और जो उसने पाच हजार की थैली अपने कमर मे बाधी हुई थी वह वही रह गई। सार यह है कि तृष्णा के मारे जब दिन भर दौड़ा और थक कर गिर पडा तब उसने सवेरे से शाम तक दौड़कर कितनी जमीन खरीदी अर्थात् जिन्दगी भर कमाई करके आयु के अबसान में साढ़े तीन हाथ जमीन खरीदी।

यह मनुष्य धन के पीछे स्व और पर का कल्याण करने का ख्याल नही रखता। और अपनी स्त्री पुत्र कुटुम्ब महल मकान सम्पत्ति दास दासी इत्यादि के लिये रात दिन धन कमाने के लिये दौड धूप करते हुए भी अन्त में क्या हाथ आता है। इनमे कोई भी साथ न देकर सभी अलग हो जाते है। इसलिये ये सभी स्त्री पुत्री, पुत्र, कुटुम्ब सपत्ति यहाँ पड़े रहने के कारण ये सभी अपने को अशरण है। शरण नही है। इसलिए हे जीव! तू अपने को आप ही सहायक है। इसलिए तू अपना उद्धार करने के लिए आप ही अपने बल के द्वारा प्रयत्न कर। कहा भी है कि—

रे जीव! त्व विमुच क्षण रुचि चपलानिद्रियार्थोपभोगा।
नेमिदु.ख न नीत किमिह भववनेऽत्यत रौद्रे हतारमन्॥
तृष्णा चित्ते न तेभ्यो विरमति विमतेऽद्यापि पापात्मकेभ्य।
ससारात्य दु.खात्कथमपि न तदा मुग्ध! मुक्ति प्रयासे॥

हे दुर्बुद्धि मूर्ख जीव! तू इन क्षणभर चमकनेवाले बिजली के समान चंचल इन्द्रियो के योग्य पदार्थो को त्याग दे,क्योकि संसार भर मे कौनसा अति भयानक दु.ख है जो तुझे इनके संग मे नही

मिला। हे निर्बुद्धि यदि आज भी तू पापी भोगो से अपने चित्त से तृष्णा को नही हटाता है तो हे मूढ ! किस तरह अत्यन्त दु ख-मय ससार से मुक्ति प्राप्त करेगा ? इस तरह यह खूब ध्यान मे जमा लेना चाहिए कि धनादि परिग्रह और विषय भोगो के संग से यद्यपि देह का उपकार है व दानादि करने से कुछ पुण्य बध है तथापि आत्मा का हर तरह अहित ही होता है। आत्मा का हित तप ध्यान वैराग्य से है, जिनसे शरीर का हित नही होता। ऐसा जान शरीर के मोह मे पडकर धनादि की वाछा नही करनी चाहिए तथा जीव का उपकारक जो धम है उसी मे प्रीति रखनी चाहिए। तब अपना उद्धार आप ही कर लेगा। तुझे सहायता देने वाला और कोई नही है।

आत्मज्ञान शून्य तपस्वी इस ससार से मुक्ति नही पाता है—

ई संसारमुमात्मविभ्रमदिमात्मविज्ञानदि।
दी संसारदोळिपुं दागददरिदात्म प्रबोधेतरा—
भ्यासर्वाह्य तपः प्रपंचमनेनिच्चं माड्डुतिर्दु समं।
ती संसारदे पिगरेंदरिपिदै निर्वाण लक्ष्मीपती ! ॥८॥

हे मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति सिद्ध भगवान् ! यह जीव अपने विभ्रम या मिथ्यात्व से ससार की वृद्धि करता है। और आत्म परिज्ञान से ससार से निवृत्ति (मोक्ष) भी प्राप्त करता है। और जो जीव मिथ्यात्व मे ही हमेशा रत रहते है वे और मिथ्या तपस्या इत्यादि को करने वाले कभी भी इस ससार से निकलकर

मोक्ष को प्राप्त नही कर सकते है ऐसा आपने इस जीवात्मा को समझाया है ॥८॥

विवेचन यहां पर भगवान ने अज्ञानी जीवो को समझाया है कि जैसे कोई तीव्र नशे मे होता है तो वह अपने स्वरूप को और मानता है। अपनी माता को स्त्री और स्त्री को माता मानने लगता है। मद्य के निमित्त से ज्ञान विपरीत हो जाता है। उसी तरह संसारी आत्मा के अनादि काल से मोहनीय कर्म का सम्बन्ध हो रहा है जिससे अनादि से ही इसका ज्ञान विपरीत हो रहा है विपरीत बुद्धि के कारण यह अज्ञानी जीव शरीर आदि पदार्थो के स्वरूप को ठीक ठीक नही मानता है। जो इन्द्रिय भोगो की तृप्ति नही करते तथा वियोग होने पर दु ख देते है व चाह की दाह को बढ़ाकर आकुलित कर देते है उन्ही को सुखदाई मान रहा है। और जो अतीन्द्रिय स्वाधीन सुख अपने ही पास है उसकी उसे कुछ भी खबर नही है। इसमे उसके तीव्र मिथ्यात्व के तीव्र उदय का दोष है। कहा भी है कि--

अविद्यासंज्ञितस्तस्यात्संस्कारो जायते दृढ ।
येन लोकोऽङ्गमेव स्व पुनस्त्वभिमन्यते ॥

भाव यह है कि अज्ञानमई अभ्यास से ऐसा दृढ श्रद्धान हो जाता है जिससे यह जन बार बार अपने शरीर को ही आप रूप मानकर बैठ जाता है और खुद ही रागी द्वेषी मोही होते हुए अनेक पर पदार्थों को अपना मानकर इकट्ठा करता है। स्त्री पुत्र

मित्र कुटुम्बादि के साथ ममत्वभाव करता है। उसके कारण अनेक पापो का उपार्जन करता हुआ ससार की वृद्धि करता है । और जन्म मरण करते ओर चारो गतियो मे घूमते हुये अनेक दु:खो को सहता है । और वही स्वपर तत्व के ज्ञान के द्वारा संसार से निवृत्ति अर्थात् मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है। कहा भी है कि —

एव सगय तच्च अराण तरु परगय पुणो भणियं ।
सगय णिय अप्पाणं इयर पचावि परमेट्ठी ॥

सात तत्वो के भीतर जीव तत्व सार है, इस जीव तत्व मे जो संसार मे भ्रमण के कारण मिथ्यात्व कर्म से मलिन आत्माए हैं, उनको ध्यान मे न लेकर जो मोक्ष मार्ग पर आरूढ़ शुद्ध चारित्रवान् आत्माए हैं उन को यहां पर तत्व कहा गया है। यथा अपने ही शुद्ध आत्मा को स्वतत्व कहा गया है । जिस तत्व के अनुभव से मोक्षमार्ग की सिद्धि हो ऐसा तत्त्व निज शुद्धात्मा है। जब शुद्धात्मा का ध्यान ज्ञान तथा अनुभव किया करता है तब स्वानुभव उत्पन्न होता है। और वीतरागता होती है जो अग्नि के समान कर्मों को जलाती है और आत्मा को पवित्र करती है। जिसके द्वारा साधक भव्य जीव अपने भावो को धर्म भावना मे स्थिर रखने का अभ्यास करे व अपने ही शुद्धामा की ओर पहुंच जावे। ऐसे परतत्व पाच परमेष्ठी है। जगत मे परम इष्ट व परम पद से रहने वाले पांच उत्कृष्ट पद है। जिसको सर्व ही इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि नमस्कार करते हैं । शास्त्र मे सौ इन्द्र की गिनती इस प्रकार है—

भवणालय चालोसा व्यन्तर|देवाण होंति बत्तीसा।
कप्पामर चौबीसा चंदो सूरो नरो तिरिओ ॥

भवनवासी देवो के चालीस, व्यंतर देवो के बत्तीस, ज्योतिषी देवो के दो सूर्य व चन्द्र, कल्पवासी देवो के चौबीस, मानवो मे चक्रवर्ती, पशुओ मे अष्टापद ये सो इन्द्र इन्ही पाच परमेष्ठियो को नमस्कार करते है। इनमे अरहन्त, सिद्ध परमात्मा है। आचार्य, उपाध्याय, साधु अन्तरात्मा है। जो चार अघातिया कर्मो को शुक्ल ध्यान के द्वारा नाश करके पूजने योग्य हो जाते है उनको अरहन्त कहते है। इन कर्मो के क्षय से नौ लब्धिया या शक्तिया प्राप्त हो जाती है। ज्ञानावरण के नाश से अनन्त ज्ञान, दर्शनावरण के नाश से अनंत दर्शन, मोहनीय कर्म के नाश से क्षायिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक चारित्र, अन्तराय कर्म के नाश से अनन्त दान, अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग और अनन्तवीर्य। आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय चार अघातिया कर्मो के उदय से जो अभी शरीर मे है, उनको अरहन्त कहते है। इनमे जो तीर्थंकर पदधारी महान पुण्यात्मा है उनके पुण्योदय की विशेषता से इन्द्रादि देव समवशरण की रचना करके उनके माहात्म्य का प्रकाश करते है। वे विशेषरूप से विहार करके धर्मतीर्थ का प्रचार करते है।

जो तीर्थंकर नही होते है, सामान्य केवलज्ञानी अरहन्त होते है, उनकी गन्धकुटी रची जाती है। सर्व ही अरहत परमौदारिक शरीरधारी होते है। शरीर का परिवर्तन क्षीण मोह बारहवे गुण-

स्थान मे हो जाता है। धातु उपधातु पककर कपूर के समान शुद्ध हो जाता है। शरीर बहुत ही हलका हो जाता है। जैसे रत्नादि पाषाण रसायन द्वारा भस्म रूप मे बदल जाते है वैसे ही शुक्ल ध्यान की अग्नि से अस्थि मासादि सब शुद्ध पक्व रसरूप हो जाते है । ऐसे शरीर के लिये अन्न व दूध आदि पदार्थों के खाने की आवश्यकता नही रहती है । अरहन्त भगवान के मोह के नाश होने से मै निर्बल हूँ ऐसी न तो ग्लानि होती है न भोजन करने की इच्छा होती है।

वेदनीय कर्म के उदय और मोहनीय कर्म की सहायता से सुख व दु ख का भाव पैदा होता है । मोह के क्षय से क्षुधा की वेदना का कष्ट नही होता है और क्षुधा मिटने से तृप्ति का सुख होता है । अरहत का आत्मा वीतराग व अनन्तज्ञानी होने से निरन्तर स्वस्वरूप मे मग्न रह कर स्वात्मानन्द का निरन्तर भोग करता है, और हमेशा सुखी होकर मोक्ष लक्ष्मी सुख का अनुभव करता है । वही ससार मे चारो गतियो मे भ्रमण करने वाला जीव चिरकाल तक सुख सागर मे मग्न रह कर मोक्ष लक्ष्मी के द्वारा उत्पन्न अनन्त सुख का आस्वाद करते हुये स्थिर रहता है।

इसके विपरीत निजात्मज्ञान से शून्य अज्ञान अविद्या मिथ्यात्व के उदय के निमित्त से अनेक मिथ्या तपश्चर्या करने वाले जीव कभी भी ससार परिभ्रमण मे मुक्त नहीं होते है। वे हमेशा ससार मे भ्रमण करते रहते है।

शिष्य प्रश्न करता है कि—हे भगवन् ! यह मोक्ष मे तो सुखी

रहता ही है परन्तु यदि संसार मे भी सुखी रहे तो क्या दोष है? तब ससार को त्याज्य क्यो कहना चाहिये । जब कि सर्व जीव सुख और तृप्ति की इच्छा करते है?

भगवान् उत्तर देते है —

विपद्भवपदावर्ते पदके वातिबाह्यते ।
यावत्तावद्भवन्त्यन्या प्रचुरा विपद पुर ॥

ससार रूपी पग से चलाए जाने वाले घटिका यन्त्र मे अर्थात् ऐसे संसार मे जो घटिका यन्त्र के समान वार वार हिर फिर के चक्कर रूप घूमता है, जब तक इस जीव के द्वारा सहज अकस्मात् आई हुई शारोरिक मानसिक आपत्तियो के मध्य मे कोई विपत्ति घटिका यन्त्र मे पैर से चलाए जाने वाली लकडी के समान अति-क्रमण की जाती है—हटाई जाती है इतने ही मे दूसरी बहुत सी आपत्तिया इस जीव के सामने आ जाती है। इसलिए इस ससार मे सुख नही है, सुखाभास है। इसलिये हे शिष्य! यह जानो कि संसार में निरन्तर एक न एक विपत्ति रहती है जो एकमात्र दु ख को ही देने वाली है, इसलिये इस ससार का अर्थात् पच परिवर्तन रूप भ्रमण का अवश्य नाश कर डालना चाहिये ।

आत्म ज्ञान सहित ज्ञानी जीव क्षणमात्र भी आत्मज्ञान मे रत होने से शीघ्र ही मोक्ष को पाता है—

भवत्वाराशि योळाळ् वरात्म विमुखर्बाह्य क्रियानिन्हळर् ।
स त्रिशेषात्म विवेकरण्पवर्गळं स्वात्मस्थरल्लादोडं ॥

तवरू मग्नरे नेड्डनिमुवरदं दुष्कर्मकांडप्रमा ।
दविरदूर्स्वगतक्कं लेंदरिपदं निर्वाण लक्ष्मीपती ! ॥ ६

अर्थ—हे निर्वाण मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति अरहत भगवान् ! आत्म ज्ञान से रहित यह अज्ञानी जीवात्मा वाह्य क्रिया मे मग्न होकर इस ससार रूपी समुद्र मे हमेशा दु ख या कष्ट भोगता रहता है । परन्तु इसके विपरीत आत्म परिज्ञानी विवेकी जीवात्मा आत्मध्यान नही करने पर भी इस ससार समुद्र मे भटकते हुए दुखी होगा क्या ? नही । ऐसा जीव क्षणमात्र मे ही एकाग्रता से प्रमादोन्नित होकर अपने आत्मध्यान मे लीन होता है । इस प्रकार आपने समझाया है ॥६॥

यहा पर भगवान ने बतलाया है कि जब तक यह अज्ञानी जीवात्मा, कर्मो के उदय के आधीन होकर वर्तन किया करता है तब तक यह निरतर कर्मो का सचय करता है । क्योकि अज्ञानी आत्मा की चाहना कर्म के प्रपच जाल मे ही रहती है। उसे अपने जीवन की खबर नही होती है। वह पुद्गल के आधीन होता हुआ पर समय रूप बहिरात्मा रहता है इसलिये ससार की चाह के कारण-ससार के कारण कर्मो को बाधा करता है । प्रयोजन यह है कि कर्म अपनी सतान को बढ़ाते रहते है। जैसे कोई अज्ञानी मनुष्य मद्य को पीकर दु ख उठाता है, तब भी मद्य को जब तक हितकारी समझता है तब तक मद्य को बार-बार पीता हुआ मद्य की संतान को बढाता है। रागी मिथ्या जीव की भी यही दशा है। मोह मद्य को पिये हुए वह निरतर मोह के वशीभूत हो कर्मों का अधिक संचय करके मोह के कारणीभूत देहादि पदार्थो को बार बार प्राप्त करता है। अज्ञानी जीव मे मोह कर्म की बलवत्ता होती है। इसके भीतर जीव का पुरुषार्थ बिलकुल दब रहा है । इसलिये बलवान मोह अपने बल को बढ़ाता है। आचार्य कहते है कि —

परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव ।
उपकुर्वन्परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत् ॥

हे अज्ञानी जीव ! तू तत्व ज्ञान से शून्य होकर इन दिखने वाले या इन्द्रियो से अनुभव मे आने वाले,अपने आत्मा के स्वभाव

से सर्वथा विपरीत ऐसे देह आदि पदार्थों का उपकार कर रहा है सो अब तू लौकिक जन की तरह कर। जैसे कोई आदमी पर को पर रूप न मानता हुआ अर्थात् भूल से उसे अपना सगा मानता हुआ उसके साथ भलाई करता रहता है, परन्तु जब वह ठीक ठीक बात जान लेता है तब उसके उपकार को छोडकर अपने ही हित मे लग जाता है। उस तरह पर जो कर्म बन्ध या शरीरादि जिनके साथ तू अज्ञानवश उपकार कर रहा है उस उपकार का यथार्थ ज्ञान के अभ्यास से त्याग कर अपने आत्मा के उपकार मे तत्पर हो।

भगवान कहते है कि जो कोई गुरु के उपदेश से, भावना के अभ्यास व स्वानुभव से आप-पर के भेद को जानता है वह महात्मा निरन्तर मोक्ष सुख का अनुभव करता है।

जसे किसी के पास दियासलाई अपनी जेब मे रखी हो तो उसको अपने घर मे रक्खे बहुत दिन के कूडे कचरे को जलाने मे देर नही लगती है। परन्तु जिनके पास दियासलाई का साधन नही है उनके लिए उस कचरे को जलाना मुश्किल पडता है। उसी तरह जिस भव्य ज्ञानी के पास स्वपर भेद ज्ञान का साधन मौजूद है उनके लिये कोई चिन्ता नही है। संसार रूपी कचरे मे रहने पर भी ज्ञान रूपी दियासलाई के द्वारा कर्म रूपी कचरे को क्षण मात्र मे नष्ट कर आत्मज्ञान की सिद्धि प्राप्त कर लेता है। परन्तु अज्ञानी मोही जीव ससार मे रहकर हमेशा दु ख ही भोगता है क्योकि ज्ञानहीन होने के कारण तथा स्व पर की पहचान के बिना व्रत तप पूजा दान इत्यादि करने पर भी आत्मानुभव की सिद्धि बिना उसकी सभी क्रिया व्यर्थ होती है। और फिर भी दीर्घ संसारी होकर अनतकाल तक दु:ख ही दु.ख भोगता है, सुख नही। इसलिये संसारी जीव आत्मज्ञान से शून्य होने से आत्म सुख की प्राप्ति नही कर सकेगा और ज्ञानी संसार मे रहते हुए भी क्षणमात्र मे आत्म सुख की प्राप्ति कर सकता है।

समय ज्ञानदे सिद्धियागदद्रोठ् श्रद्धान भिल्लादोडा।
समय ज्ञानधु मल्लिनं लुगेयु सुंटागिदोंडं शुद्धसं।।

य मभिव्लादोडमेतुं मागददरि रत्नत्रयं सिद्धियुं ।
सर्मानक्कु मुनिगेदुंनींवेससिदें निर्वाण लच्मीपती ! ॥१०

अर्थ—हे निर्वाण मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति अरहत भगवान् ! अपने आत्मा के श्रद्धान के बिना मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती है इसलिए आत्मा के ऊपर श्रद्धान तथा आत्मा का परिज्ञान चाहिए। यह दोनो होने पर भी आत्म ध्यान की सिद्धि निश्चय चारित्र के बिना नही हो सकती । इसलिये यह तीनो निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र अवश्य चाहिये ऐसा आपने भव्य जीवात्मा को समझाया है ॥१०॥

विवेचन—आत्मा के ऊपर श्रद्धा और ज्ञान होने पर भी चारित्र बिना रत्नत्रय की पूर्ति नही हो सकती है । क्योकि इन तीनो को अगर अलग मानेगे तो रत्नत्रय गधे के सीग के समान असम्भव होगा । क्योकि अगर ऐसे मानोगे तो पदार्थ नित्य ठहरेगा जैसे अग्नि और उष्णता अलग२ होने पर भी द्रव्यार्थ की अपेक्षा से एक है। अग्नि और उष्णता का परस्पर भेद मानने से अगर उष्णता को अलग किया जाय तो अग्नि या उष्णता दोनो का अभाव हो जाने से असभव दोष आवेगा । इसलिये अग्नि और उष्णता पर्यायार्थिक नय से अलग और द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से एक ही है।

इसी प्रकार जीव का स्वभाव ज्ञान दर्शन चारित्र लक्षणो से एक है और पर्याय अपेक्षा से तीन प्रकार है । जब तीनो मिल-

कर पूर्ण होगे तब रत्नत्रय की पूर्ति हो सकती है । कहा भी है :—

न सर्वथा नित्यमुदेत्यपेति न च क्रिया कारकमत्र युक्तम् ।

नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तम.पुद्गल भावतोऽस्ति ।

सर्व प्रकार से वस्तु नित्य ही है एक रूप ही रहने वाली है। ऐसा एकान्त मान लेने से न उसमे कोई अवस्था प्रकट हो सकती है और न किसी अवस्था का नाश हो सकता है । यदि योग, साख्य व मीमासको के अनुसार तत्त्व को सर्वथा नित्य ही मान जावे अर्थात् जैसे वस्तु द्रव्य की अपेक्षा नित्य है वैसा ही वह पर्याय की अपेक्षा भी नित्य कल्पना को जावे तब उत्पत्ति वा विनाश सम्भव नही है। आगे की अवस्था का स्वीकार व पिछली अवस्था का नाश हो नही सकता। यदि वस्तु मे क्रिया व कारक होगे तो उत्पाद व्यय स्वभाव रहना ही चाहिए परन्तु यहाँ सर्वथा नित्य मानने से न तो गमन आदि क्रिया हो सकती है न कोई कर्ता कर्म करण आदि कारक हो सकते है। जो जैसा है वह वैसा ही रहेगा। जो गमन करता होगा, वह गमन ही करता रहेगा । जो ठहरा होगा वह ठहरा ही रहेगा । उसने यह काम किया, यह करेगा, यह कोई काल नही बनेगा। जैसा सर्वथा नित्य मानने मे उत्पत्ति व विनाश नही बनता है वैसा ही सर्वथा अनित्य या क्षणिक मानने से भी नही बन सकता क्योकि जो वस्तु आकाश के फूल के समान है ही नही, उसका जन्म हो नही सकता और जो पदार्थ है उसका सर्वथा नाश नही हो सकता। यदि कोई कहे कि

दीपक जल रहा है, उसको बुझा दिया जाय तो प्रकाश का सर्वथा नाश हो ही गया। उसका समाधान करते है कि प्रकाश और अन्धकार पुद्गल रूप से रहता है। प्रकाश और अन्धकार दोनो पुद्गल की पर्याय है। प्रकाश की अवस्था मे जो पुद्गल द्रव्य था वही अन्धकार के रूप मे हो जाता है। मात्र पर्याय पलटती है, पुद्गल का नाश नही है।

इस श्लोक मे यह भाव झलकाया है कि सत् पदार्थ का न सर्वथा नाश होता है न असत् पदार्थ की उत्पत्ति होती है। यह सिद्धान्त अखण्ड है। तथापि जगत मे उत्पत्ति व विनाश तो देखने मे आता है। एक दूध से दही बना, तब दही की उत्पत्ति हुई, दूध का नाग हुआ। एक सुवर्ण के कुण्डल को तोडकर कडा बना, तव कुण्डल का विनाश करके कडा बना। ऐसे कार्यो के होने मे मात्र अवस्था या पर्याय पलटी है। जिस द्रव्य मे ये अवस्थाये हुई वह ध्रुव या नित्य है। कुण्डल और कडे मे सोने की अवस्थाये पलटी, सुवर्ण दोनो मे कायम है। इससे यह सिद्ध है कि कोई वस्तु सर्वथा न नित्य है न अनित्य है। वस्तु द्रव्य की अपेक्षा नित्य है, वही पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। यदि सर्वथा नित्य मानी जावेगी तो कोई भी कोई काम न कर सकेगा। सव एक से ही रहेगे। जो चलता है वह चलता ही रहेगा, कभी ठहरेगा नही। जो ठहरा है वह कभी चलेगा ही नही। जो सोता है वह सोता ही रहेगा, जो जागता हे वह जागता ही रहेगा। न रुई का सूत वनेगा, न सूत का कपडा ही वुना जायगा। न कपडे से कोट वनेगा। इसी तरह

यदि वस्तु को सर्वथा अनित्य माना जायगा तो नाश के पीछे कुछ भी रहना न चाहिये। सो ऐसा देखने मे नही आता। यदि कपड़े को जलाया जावे तो राख की उत्पत्ति हो जाती है। यदि मकान को तोडा जावे तो लकड़ी ईट आदि रूप मे प्रगट हो जाते हैं। यदि प्रकाश का नाश किया जाय तो अन्धकार रूप में हो जाता है। सर्वथा उत्पत्ति व सर्वथा नाश तो किसी का होता ही नही। जो पदार्थ होगा उसी मे उत्पत्ति किसी अवस्था की होगी और जब किसी अवस्था की उत्पत्ति होगी तब पहली अबस्था का नाश अवश्य होगा। उत्पन्न होना भी अवस्था का ही है, नाश होना भी अवस्था का ही है। जिसमे ये दोनो बाते होती हैं वह द्रव्य बना रहता है। सर्वथा वस्तु नित्य है व सर्वथा क्षणिक है दोनो ही बाते सिद्ध नही हो सकती। वस्तु नित्य अनित्य उभय रूप है। यह अनेकान्त सिद्धान्त, हे सुमतिनाथ! जो आपने कहा है वही सत्य है। सामान्य द्रव्य कभी उपजता नही, सदा बना रहता है इस कारण तत्त्व नित्य है। उसमे विशेषपना या पर्यायपना होता है इससे वह अनित्य भी है। ऐसा ही स्वामी समन्तभद्र ने आप्त मीमासा मे भी बताया है—

यदि सत् सर्वथा कार्यं पु वन्नोत्पतुमर्हति।
परिणामप्रक्लृप्तिश्च नित्यत्वैकान्तवाधिनी॥
यद्यसत्सर्वथा कार्यं तन्माजनि खपुष्पवत्।
मोपादान नियामोभून्माऽऽश्वास कार्यजन्मनि॥

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् ।
व्ये-युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥

यदि सर्वथा सत् रूप या नित्य रूप माना जावे तो जैसे पुरुष व आत्मा की उत्पत्ति नही होती है वैसे ही किसी घटपट आदि अवस्था कार्य की भी उत्पत्ति न वने । नित्यपक्ष का एकान्त मानने से अवस्था के पलटने की व्यवस्था वन ही नही सकती और यदि सर्वथा वस्तु असत् मानी जावे तो भी कोई कार्य नही होगा । जैसे आकाश मे फूल नही होते, वैसे घट पट आदि काम न वनेगे न यह नियम ही रहेगा कि उपादान कारण के समान कार्य होता है। अर्थात् जैसी मिट्टी होगी वैसे उसके वर्तन वनेगे । सुवर्ण जैसा होगा वैसा कडा वनेगा । और जव वस्तु क्षणिक वन जायगी तव यह निश्चय भी नही वन सकेगा कि इससे अमुक कार्य हो सकेगा जव यह निश्चय ही न होगा कि गेहूँ से रोटी वन सकेगी तो कौन गेहूँ को खरीदेगा । इसलिये वस्तु न तो सर्वथा नित्य है न सर्वथा क्षणिक असत् है । वस्तु नित्य अनित्य रूप है। द्रव्य रूप से कोई वस्तु न उपजती है न विनशती है क्योकि द्रव्य सदा वना रहता है, वह अपनी अनन्त पर्यायो मे टिका रहता है । विशेष पर्याय रूप से ही द्रव्य मे उत्पाद व्यय होता है । इसलिए यह सिद्ध है कि जो सत् द्रव्य है वह एक ही काल मे उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य स्वरूप है । पिछली पर्याय का नाश वर्तमान पर्याय का जन्म सदा ही द्रव्य मे होता रहता है। तथापि द्रव्य वना रहता है। यह वस्तु का सच्चा स्वरूप है। शुद्ध द्रव्यो मे सदृश व स्वाभाविक पर्यायें

होती है, अशुद्ध द्रव्यो मे विसदृश व औपाधिक पर्याये होती है। द्रव्य पर्याय बिना नही, पर्याय द्रव्य बिना नही हो सकती है यही वस्तु स्वभाव है।

इसी प्रकार आत्मा मे दर्शन ज्ञान चारित्र के बिना मोक्ष की सिद्धि नही हो सकती है तीनो को जब एक माना जावे तब ही मोक्ष की सिद्धि हो सकती है अन्यथा नही, यही भगवान का मत है।

अरिवाग ळनयमेल्ल रिंदरिदु नाना वस्थेयिं वस्तुवं ।
नेरे तद्रूपमनितुटेंदु तरिसंद व्यग्रनादुतमं ॥
तोरेदे ल्लानयपक्ष पाततितियं स्वस्थं विकल्पच्युतं ।
पेरुगुं निन्ननमतानुभूतियनद निर्वाण लक्ष्मीपती ! ॥११

अर्थ—हे मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति सिद्ध भगवान ! जो भव्य जीव सभी नयो को जानकर और अनेक पर्यायो से मिले हुए पदार्थ को भिन्न भिन्न रूप से उसके स्वरूप को अच्छी तरह से वे इस प्रकार है ऐसा जानकर उसमे सशय नही करता रुचि या श्रद्धा रखता है, यह ठीक है। बाद मे उस अनेक नय पक्ष को छोड़कर अपने आत्मा मे लीन होना तथा संकल्प विकल्प से रहित होकर आपके अनुभव रूपी अमृत का रुचिपूर्वक आस्वादन करना यही सच्चे सुख का अनुभव या मार्ग है। जो इसे अनुभव करता है वह हमेशा के लिये सुखी हो जाता है ॥११॥

विवेचन – मोक्ष मार्ग की इच्छा करने वाले के लिये ये सात

तत्त्व बतलाये है - (१) जीव (२) अजीव (३) आस्रव (४) बन्ध (५) सवर (६) निर्जरा और (७) मोक्ष । इन तत्त्वो मे पाप और पुण्य मिलने से नौ तत्त्व भी हो जाते है । जीव शरीर आदि अजीव से मिला हुआ है यह प्रत्यक्ष सिद्ध है । तब मात्र अपना जीव ग्रहण करने योग्य है और अजीव तत्त्व त्यागने योग्य है । त्यागने योग्य अजीव तत्त्व को ग्रहण करने के मार्ग को आस्रव कहते है । उसी का आत्मा के साथ बध जाना बन्ध तत्त्व कहा है । अजीव तत्त्व के दूर करने के कारण को सबर और उसके एक देश को दूर करना निर्जरा तत्त्व है । त्यागने योग्य अजीव के बिल्कुल छूट जाने को मोक्ष तत्त्व कहा जाता है ।

(१) जीव तत्त्व – चेतना लक्षण जीव है, ससारावस्था मे अशुद्ध है ।

(२) अजीव तत्त्व—पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल ये पाच चेतना रहित अजीव द्रव्य इस जगत मे है ।

(३) आस्रव तत्त्व—कर्मो के आने के कारण को व कर्मो के आने को आस्रव कहते है ।

(४) वन्ध तत्त्व—कर्मो के आत्मा के साथ वन्धने के कारण को व कर्मो के वन्ध को बन्ध कहते है ।

(५' सम्वर तत्त्व—कर्मो के आने के रोकने के कारण को व कर्मो के रुक जाने को सम्वर कहते है ।

(६) निर्जरा तत्त्व—कर्मों के झडने के कारण को व कर्मो के झडने को निर्जरा कहते है।

(७) मोक्ष तत्त्व– सर्व कर्मो से छूट जाने व कर्मो से पृथक होने को मोक्ष कहते है।

यह विश्व जीव और अजीव का अर्थात् जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, इन छह द्रव्यो का समुदाय है। पुद्गलो मे सूक्ष्म जाति की पुद्गल कर्म वर्गणा है या कर्म स्कध है। उन्ही के सयोग से आत्मा अशुद्ध होता है। ये सात तत्त्व बडे उपयोगी है। इनको ठीक २ जाने बिना आत्मा से कर्म की बीमारी मिट नही सकती है। इन्ही का सच्चा श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है। इन्ही के मनन से निश्चय सम्यग्दर्शन होता है। इसलिये ये निश्चय सम्यक्त्व के होने मे बाहरी निमित्त कारण है। अन्तरंग निमित्त कारण अनन्तानुबन्धी चार कषाय और मिथ्यात्व कर्म का उपशम या क्षय होना है।

जीवात्मा को जब तक निश्चय नय की पहचान नही तब तक व्यवहार धर्म का अवलम्बन करना उचित है। परन्तु इस जीव के लिये व्यवहार क्रिया किये बिना मोक्ष का साधन नही हो सकता है। कहा भी है कि :—

दान पूजा पञ्च परमेष्ठी वन्दनादिरूप परम्परया मुक्ति कारण श्रावक धर्म कथयति–

दाणुण दिण्णउ मुणिवरह णवि पुज्जिउ जिण णाहु।
पचण वंदिय परमगुरु किमु होसइ सिवलाहु ॥

अर्थ– दान पूजा तथा पच परमेष्ठी की वदना करना जो श्रावक धर्म है, वह मुक्ति का साधन है।

जब तक चारो प्रकार का दान मुनीश्वर आदि पात्रो को नही दिया जाय, जिनेन्द्र भगवान की पूजा अष्ट द्रव्यो से भक्ति पूर्वक न की जाय, अरहत आदि पच परमेष्ठी को नही पूजा जाय तब तक मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

भावार्थ—आहार, औषध, अभय और शास्त्र यह चार प्रकार का दान भक्ति पूर्वक पात्रो को दिया जाय। निश्चय रत्नत्रय के आराधक जो यती उत्तम, मध्यम, जघन्य तीनो पात्रों के अर्थात् चार प्रकार का सघ–मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका इनको चार प्रकार का दान भक्ति पूर्वक नही दिया और भूखे जीवो को करुणा भाव से अन्न दान नही दिया, इन को भक्ति पूर्वक दान देने की मन मे भावना भी नही की, इन्द्र, नगेन्द्र, नरेन्द्र इत्यादिको से पूज्य केवलज्ञानादिक अनन्त गुणो से पूर्ण जिनेश्वर की पूजा नही की, और तीन लोक से वन्दने योग्य ऐसे अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु इन पाच परमेष्ठी की भक्तिपूर्वक आराधना नही की। इसलिये हे जीव ! इन कार्यो के बिना तुझे मुक्ति का लाभ कैसे होगा, क्योकि मोक्ष को प्राप्ति के लिये यही साधन है। जिन पूजा, पच परमेष्ठी की वन्दना और चार सघ को चार प्रकार का दान इनको दिये बिना मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती है। इसलिये हे जीव ! इसको अच्छा प्रकार जानकर उपासकाध्ययन अग मे कहे हुये दान पूजा

वंदनादिक की विधि ही करने योग्य है। सुविधि से न्याय के द्वारा उपार्जन किया हुआ धन व दातार के अच्छे गुणो का धारण, विधि से पात्र को दान देना, जिनराज की पूजा करना और पंच परमेष्ठो की वंदना करना यही व्यवहार रत्नत्रय है, यही कल्याण का उपाय है। इस व्यवहार रत्नत्रय की सिद्धि होने के बाद इसको हेय मानकर निश्चय रत्नत्रय की आराधना करना यही मुक्ति का कारण है। निश्चय नय से चिन्तारहित ध्यान ही मुक्ति का कारण है।

आधे खुले हुए तथा आधे बन्द किये हुए नेत्रो से क्या ध्यान की सिद्धि होती है ? कभी नही। जो चिन्ता रहित एकाग्रता में स्थित है उसको स्वयमेव परम गति मिलती है, ख्याति पूजा मिलती है, लाभ हानि आदि समस्त चिन्ता से रहित जो निश्चित पुरुष हैं वे ही शुद्धात्म स्वरूप में स्थिरता पाते हैं। उन्ही के ध्यान की सिद्धि है। वे ही परम गति के पात्र हैं। इसलिये हे जीव ! जो तू चिन्ताओको छोडेगा तो संसार का भ्रमण छूट जायगा। क्योकि चिन्ता मे लगे हुये छद्मस्थ अवस्था वाले तीर्थंकरदेव भो परमात्मा का आचरण रूप शुद्ध भावो को नही पाते है।

साराश यह है कि हे जीव !, निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव परमात्मा से पराङ्मुख जो चिन्ता जाल को छोड़ेगा तभी चिन्ता के अभाव से संसार भ्रमण छूटेगा। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पाच प्रकार के संसार से तू मुक्त होगा। जब तक तू चिन्तावान है तब तक निर्विकल्प ध्यान की सिद्धि नही हो सकती है। दूसरो की

तो क्या बात है। तीर्थंकर देव भी छद्मस्थ अवस्था मे जब तक कुछ शुभाशुभ चिन्ता से सहित है तब तक वे भी रागादिक रहित शुद्धोपयोग परिणामो को नही पा सकते हैं । संशय, विमोह विभ्रम रहित अनन्त ज्ञानादिक निर्मल गुण सहित हस के समान उज्ज्वल परमात्मा के शुद्ध भाव है वे चिन्ता को छोडे बिना नही प्राप्त होते है । तीर्थंकरदेव भी मुनि होकर निश्चित व्रत धारण करते है,तभी परमहंस दशा को प्राप्त होते है। इस प्रकार हे जीव! तू देखे सुने भोगे हुए भोगो की वाछा आदि समस्त चिन्ता जाल को छोड कर परम निश्चित हो और शुद्धात्म की भावना करो, यही सार भगवान ने समझाया है ।।११।।

परभावं परभावमं जनियिकुं स्वात्मस्थ भावं निरं ।
तरितं स्वात्मगतत्वमं बगेये पात्रं लोहदिं निर्मितं ।।
निरुतं लोहमयं सुवर्ण रतितं सौवर्ण मेंबंददि ।
परमल्तेवुदु निन्न शास्त्रद तिरुळ् निर्वाण लक्ष्मीपती !।।१२

अर्थ—हे मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति अरहन्त भगवान्! अज्ञानी ससारी जीव को आपने ऐसे बतलाया है कि लोहे से निर्माण किया हुआ पात्र लोहमय है और सोने के द्वारा निर्मितं स्वर्णमयी है। इसी प्रकार अपने भेद विज्ञान के द्वारा जो आत्मेतर पर पदार्थ है, रागद्वेषादिक परिणाम उत्पन्न करने वाले हैं और दुःख देने वाले है उनको और जो आत्म स्वभाव-आत्म परिज्ञान को उत्पन्न करने वाले है उनको दोनो को अलग अलग विचार

करने से कभी भो विभाव परिणति उत्पन्न नही होती है । इस प्रकार हे भगवन् ! आपके उपदेश का यही सार है।

विवेचन—पर परिणति राग द्वेष को उत्पन्न करने वाली है और स्व परिणति स्वात्म स्वभाव-शान्ति को उत्पन्न करने वाली है। इसलिये जीव को पर पदार्थ को हेय मानकर हमेशा स्व पर का विचार कर पर वस्तु से भिन्न आत्म स्वरूप का चिन्तवन करना चाहिए।

भगवान ने यह बतलाया है कि सभी प्राणी साधारणतया यही चाहते हैं कि हम सदा जीवित रहे। हमारा कभी मरण न हो, परन्तु वे ऐसा कोई अलौकिक पुरुषार्थ नही करते जिससे वे मरण को टाल सके । प्रयत्न तो बहुत करते हैं औषधि, मन्त्र, तन्त्र आदि बहुत कुछ करते है परन्तु मरण को या होनहार को बिल्कुल नही टाल सकते है। यह शक्ति किसी मे भी नही है। इन्द्र जो महा बलवान हैं, वह भी आयु कर्म के क्षय के समय को टाल नही सकता । चक्रवर्ती जो महान निधियो के स्वामी हैं उनको भी समय पर मरना ही पड़ता है । यह अमिट भवितव्यता का स्पष्ट प्रमाण है । दूसरा यह है कि बहुधा यह चाहते है कि हम ससार से एकदम छूट जावे, हमारी मुक्ति हो जावे परन्तु चाहने पर भी अपना छुटकारा नही कर सकते, क्योकि लौकिक पुरुषार्थ से कोई संसार से छूटकर मुक्त नही हो सकता । कर्मोदय उसको नवीन गतियों मे फँसा देता है । यह भी दैव की शक्ति का प्रगट

दृष्टान्त है। अथवा हर एक प्राणी सुख चाहता है, भला चाहता है वह हमेशा सोचता है कि मैं न रोगी होऊं, न बूढ़ा होऊं, न असमर्थ रहूँ, किन्तु सदा ही इच्छित भोगो को भोगता रहूँ। मेरे सुख में कभी भी विघ्न न आवे। परन्तु कर्मोदय की तीव्रता होने के कारण ऐसा होता नही है। रात दिन सुख छिन्न होता रहता है। इच्छित हित हाथ मे नही आता है। यह क्या कर्मों की तीव्रता का प्रगट दृष्टान्त नही है। ऐसा जानते हुए भी जो अज्ञानी जीव वस्तु के स्वरूप से अनभिज्ञ हैं, वे निरन्तर मरण से भयभीत रहते हैं।

वे ऐसे सुख की इच्छा किया करते हैं, जो अपने लौकिक पुरुषार्थ के आधीन नही है। जिसमे कर्मोंदय की भी आवश्यकता है, उसके लिये दुखी होते हुए व्यर्थं ही कष्ट पाते है तथा मन को अशान्त रखते है। जो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव हैं, वे जानते हैं कि हमारा यह जीवन आयु कर्म के उदय के आधीन है। हम आयु कर्म की स्थिति को बिलकुल ही बढा नही सकते हैं। इसलिए जब आयु क्षय होगी, हमे यह शरीर छोडना पडेगा और दूसरा धारण करना पडेगा। इसलिए हमको मरण से कभी भय नही रखना चाहिये। जिनके समय को हम टाल नही सकते, उससे भय ना मूर्खता है। और न हमे रात दिन विशेष सुखो की चिन्ता ही करनी चाहिये, वे भी पुण्य कर्म के आधीन हैं। दूसरे यह इन्द्रियो के विषय हमारे चाहने से ही हमारे साथ नही ठहरते हैं। जो स्त्री पुत्र मित्रादिक चेतन पदार्थ हैं, वे अपने कर्मों के आधीन हैं। हम

चाहते है कि वे जीवित रहे, न मरे, न रोगी हो, न वियोग हो, परन्तु जब उनका कर्मोदय आता है, वे मर जाते हैं, रोगी हो जाते है, परदेश चले जाते है। जो अचेतन पदार्थ है, वे भी नाशवत है, घर उपवन वस्त्र आभूषण सब जीर्ण हो जाते है। हमारा पुण्य क्षीण होगा तब उनका सम्बन्ध भी नहीं रह सकेगा। ऐसा कर्मों का विचित्र नाटक जानकर ज्ञानी जीव न मरने से डरते है, न भोग विलास से तपते है, किन्तु हमेशा धर्म पुरुषार्थ का सच्चे भाव से पालन करते है, यह रत्नत्रयमय जिनधम ही है जिसके प्रताप से यह प्राणी सर्व कर्मों का नाश कर मरण से छूट जाता है और मुक्ति को पा लेता ह। जन्म मरणादिक क्लेशो से सदा के लिए अलग हो जाता है। धर्म ही ऐसा पुरुषार्थ है जिसके कारण पापो का क्षय होता है,पुण्य का लाभ होता है। तब लौकिक दुःख कम हो जाते हैं व लौकिक साताकारी सामग्री प्राप्त हो जाती है। यह धर्म ही जीव का परम हितकारी है। ज्ञानी जीव सदा ही निःशंक रहकर आत्मानन्द का भोग करते हुए परम धर्म से अपना हित करते है। स्याद्वाद नय से विचारते हैं कि भवितव्यता भी है और पुरुषार्थ भी है। हमे तो योग्य पुरुषार्थ धर्म अर्थ काम व मोक्ष के लिए निरंतर करते रहना चाहिए। सफलता तभी प्राप्त होगी जब दैव अनुकूल होगा। जब सिद्धि का कारण अन्तराय कर्म नष्ट होगा। इस प्रकार जीव को हमेशा भेद विज्ञान का अभ्यास करना चाहिये और पर वस्तु से भिन्न परमानंद सुख मे मग्न होकर उसी का पान करते रहना चाहिये ॥१२॥

अशुभ पोल्लदु कर्म वोळिळ्तु कर्म गळं नोळ्पड़ें ।
तो शुभं लेसि निसल्के साल्वुददुवं संसरमं माळेकुमे ॥
दशुभक्कं शुभकं समानतेय नावों कंडनै कर्ममं ।
वशम माडिदशुद्धात्नास शिवं निर्वाण लक्ष्मीपती ! ॥१३

भावार्थ—मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति अरहन्त भगवान् ! आपने यह समझाया है कि पाप कर्म दु.ख के लिये कारण है और पुण्य सुख के लिए कारण है, यह जीवो के लिए कहने मात्र के है। परन्तु विचार करके देखा जाय तो पुण्य कर्म जो अल्प सुख का कारण है वह भी ससार भ्रमण के लिए ही कारण है, इसलिए पुण्य और पाप दोनो ही समान हैं। इस प्रकार जो ठीक से जानने वाले हैं वे दोनो प्रकार के कर्मों का नाश करके परिशुद्ध (शुद्धोप योगी) होकर मगल को प्राप्त होते हैं ॥१३॥

विवेचन—अनादि काल से यह जीव मिथ्यात्वादि के कारण अनेकानेक पापो का उपार्जन करते हुए अनेक योनियो को धारण करके चारो गतियो मे भ्रमण कर रहा है। कभी एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय कभी तीन इन्द्रिय, कभी चतुरिन्द्रिय तथा कभी पचइन्द्रिय आदि अनेक शरीरो को धारण करते हुये पाप रूपी कीचड मे पुन पुन फसा करता है। शरीर का सुख क्षणिक है। कहा भी है कि—

भोगा मेघ-वितान-मध्य-विलसत्सौदामिनी चचला।
आयुर्वायु विघट्टिताभ्रपटलीलीलाम्बुवद् भगुरम् ॥

लीला यौवन लालसा तनुभृतामित्याकलय्य द्रुतं ।
योगे धैर्य समाधि सिद्धि सुलभे बुद्धि विदध्वं बुधाः ॥

अर्थ—देह धारियो के भोग-विषय सुख सघन बादलो में चमकने वाली बिजली की तरह चचल हैं। मनुष्यो की आयु हवा से छिन्न भिन्न हुए बादलो के जल के समान क्षणस्थायी या नाशवान है और जवानी की उमंग भी स्थिर नही है। इसलिए बुद्धिमानो! धैर्य से चित्त को एकाग्र करके, उसे योग साधन मे लाओ।

संसार का स्वरूप।

'संसरणं संसार. परिवर्तनं' संसार उसको कहते हैं जहां जीव ससरण या भ्रमण करता है। एक अवस्था से दूसरी अवस्था को धारता है, उसको छोड़कर फिर अन्य अवस्था को धारता है। संसार में स्थिरता नही, निराकुलता नही, ससार दुःखो का समुद्र है।

संसार और संसार के सारे पदार्थ नाशवान और असार हैं, यहा जो दिखाई देता है वह स्थिर नही रहेगा। जो अथाह जल से भरा हुआ समुद्र दिखाई देता है, वह किसी दिन मरुस्थल में परिणत हो जायगा, पानी की एक बूंद भी नही मिलेगी। यह बगीचा जो आज इन्द्र के बगीचे की बराबरी कर रहा है, जिसमे हजारो तरह के फूलो के वृक्ष लग रहे हैं हौज बने हुये हैं, छोटी२ नहरे कटी हुई हैं, संगमरमर और संगेमूसा के चबूतरे बने हुये हैं, बीच

इन्द्रभवन के जैसा महल खडा है, किसी दिन उजाड हो जायगा, इसमे स्यार लोमडी प्रभृति पशु बसेरा करेंगे। यह जो सामने महलो की नगरी दीखती है, जिसमे हजारो दुमजिले तिमजले चौमजिले, सतमजिले आलीशान मकान खडे हुए आकाश को चूम रहे हैं जहा लाखो मनुष्योके आने जाने और काम धन्धा करने के कारण कन्धेमे कन्धा छिलता है किसी दिन यहा घोर भयानक वन हो जायेगा। मनुष्यो के स्थान मे सिह, बाघ,हाथी,गेंडे,हिरन और स्यार प्रभृति पशु आ बसेगे, और तो क्या,यह सूर्य जो अपने तेज मे तीनो लोक मेप्रकाश फैलाता हैं,राहु द्वारा अन्धकाररूप हो जायगा। वह अमृत से पूर्ण सुधाकर-चन्द्रमा भी केतु द्वारा ग्रस लिया जायगा। हिमालय और सुमेरु जैसे पर्वत भी दिन रात बदलते रहते है। यह दृश्यमान हमारा जगत नाश हो जायगा। ये स्त्री पुत्र और नाते रिश्तेदार न जाने कहा छिप जायेगे ?

यह काया—जिसे मनुष्य अपना सर्वस्व समझता है, जिसे मलमल कर धोता, इत्र—फुलेलो से सुवासित करता, नाना प्रकार के रत्नजटित मनोहर गहने पहनाता,कष्ट से बचने और सुखी होने के लिये नरम नरम मखमली गद्दो पर सोता, पैरो को तकलीफ से बचाने के लिये घोडा गाडी या मोटर मे चढ़ता है— एक दिन नाश हो जायगी।

जिस तरह पत्ते पर पडी हुई बूद क्षणस्थायी होती है,उसी तरह यह काया क्षणभगुर है। जिस तरह समुद्र मे बुदबुदे उठते और मिट जाते हैं, उसी तरह शरीर बनते और क्षण भर मे नष्ट

हो जाते है। सच्च तो यह है कि,यह शरीर बिजली की चमक और बादल की छाया की तरह चचल और अस्थिर है। जिस दिन जन्म लिया, उसी दिन मौत पीछे पड़ गई। अब वह अवसर की ताक में रहती है। और समय पूर्ण होते ही प्राणी को समाप्त कर देती है।

जिस तरह जल की तरंगे उठ उठकर नष्ट हो जाती है, उसी तरह लक्ष्मी आकर क्षण मे विलीन हो जाती है । जिस तरह बिजली चमक कर गायब होजाती है,उसी तरह लक्ष्मी दर्शन देकर गायब हो जाती है। हवा और चपला को रोकना अत्यन्त कठिन है, पर शायद कोई उन्हे रोक सके, आकाश का चूर्ण करना अतीव कठिन है, पर शायद कोई आकाश को भी चूर्ण करने मे समर्थ हो जाय, समुद्र को भुजाओ से तैरना बहुत कठिन है, पर शायद कोई तैरकर उसे भी पार कर सके, इतने असम्भव काम शायद कोई सामर्थ्यवान् कर ले, पर चंचल लक्ष्मी को कोई भी स्थिर नही कर सकता। जिस तरह अजलि मे जल नही ठहरता, उसी तरह लक्ष्मी भी किसी के पास नही ठहरती।

जिस तरह वेश्या एक पुरुष से राजी नहो रहती, नित नये पुरुषो को चाहती है, उसी तरह लक्ष्मी भी किसी एक के पास नहीं रहती, नित नये पुरुषो को भजती है। इसी से लक्ष्मी और वेश्या दोनो को ही चपला कहते है।

जिस तरह सासारिक पदार्थ, लक्ष्मी और विषय भोग तथा

-नही होती। वह वृथा सुअवसर गवाता है। मूर्ख मोह के मारे नही समझता कि ऐसा मौका बड़ी मुश्किल से मिला है। इस बार चूके तो खैर नही। अज्ञानी अपनी अज्ञानता या मोह के कारण ही नाशमान और दु ख के मूल विषयोकी ओर दौड़ता है,पर आयु, यौवन और विषयो की क्षणभंगुरता पर ध्यान नही देता। यह माया मोह नही तो क्या है ? सुभाषितावलि मे लिखा है।

चला विभूति. क्षणभंगि यौवनम्।
कृतान्तदन्तान्तर्वति गेह जीवनम् ॥
तथाप्यवज्ञा परलोकसाधने।
नृणामहो विस्मयकारिचेष्टितम् ॥

विभूति चंचल है, यौवन क्षणभंगुर है, जीवन काल के दांतो मे है तो भी लोग परलोक साधन की परवाह नही करते। मनुष्यों की यह चेष्टा विस्मयकारक है।

फिरदौसी ने 'शाहनामे" मे कहा है—मनुष्य इस नापायेदार दुनियां से क्यो दिल लगाते है जब कि मौत का नक्कारा दरवाजे पर बज रहा है।

मनुष्यो! होश करो, गफलत की नीद छोडो। वह देखो मौत आपका द्वार खटखटा रही है। अब तो मिथ्या संसार का मोह त्यागो। ये जो स्त्री, पुत्र, भाई, बहिन, माता, पिता आदि प्यारे और सम्बन्धी दिखाई देते है, उसी समय तक है जब तक शरीर नष्ट नही हुआ है। शरीर के नाश होते ही ये नजर भी

न आयेगे। यह भी समझ मे नही आयेगा कि कहाँ गये और कहाँ से आये थे। यह बन्धु बान्धवो का मिलना उन यात्रियो या मुसाफिरो की तरह है जो भिन्न भिन्न स्थानो से सफर करते हुए एक वृक्ष के नीचे आकर ठहर जाते हैं और क्षणभर विश्राम लेकर फिर अपनी २ राह पर चल देते है। या उन मुसाफिरो की तरह है जो अनेक स्थानो से आकर एक सराय या धर्मशाला मे ठहरते है और फिर कोई दो दिन और कोई चार दिन रहकर अपनी अपनी जगह को चल देते है। वृक्षो के नीचे चन्द मिनट ठहरने वालो अथवा दो चार दिन ठहरने वाले सराय के मुसाफिरो का आपस मे प्रीति करना क्या अक्लमन्दी है। जिनका क्षणभर का साथ है उनमे दिल फसाना दुख मोल लेना है। उनके अलग होते ही मन मे भयानक वेदना होगी। अत उनके साथ कोई सरोकार न रखना चाहिये। यह ससार दो स्थानो के बीच का स्थान है। यात्री यहा आकर क्षणभर के लिए आराम करते और फिर आगे चले जाते है। ऐसे यात्रियो का आपस मे मेल बढाना एक दूसरे की मुहब्बत के फन्दे मे फसना सचमुच ही दुखोत्पादक है। समझदार लोग मुसाफिरो से दिल नही लगाते, उनसे प्रेम नही करते, उन्हे अपना पराया नही समझते। न उन्हे किसी से राग है न द्वेष। वे सबको समदृष्टि या एक नजर से देखते हुये सहाय करते और कष्ट निवारण करते है, पर उनसे प्रीति नही करते। लेकिन मूर्ख लोग स्त्री पुत्र और माता पिता प्रभृति को अपना प्यारा समझते और दूसरो को पराया समझते

है। इस जगत मे न कोई अपना है न पराया । यह जगत एक वृक्ष है, इस पर हजारो लाखो पक्षी भिन्न-भिन्न स्थानो से आकर रात को बसेरा लेते और सवेरे ही अपने अपने स्थानो को उड जाते है । भिन्न भिन्न स्थानो से आये हुए पक्षियो को क्या रात भर के साथ के लिये आपस मे नाता जोड़ना चाहिये ? हरगिज नही। दूसरो से सम्बन्ध जोडना, किसी को अपना पुत्र और किसी को अपनी स्त्री एवं किसी को माता बहन समझ कर स्नेह करना तो मूर्खता है ही। स्नेह तो अपनी काया से भी नही करना चाहिए क्योकि यह भी क्षणभगुर है, सदा साथ नही रहेगा।

साराश यह है कि अज्ञानी जीव अपने स्व स्वरूप से भिन्न पर पदार्थ मे रत होकर सर्वदा पाप सचय करते हैं। उसमे रत होने के कारण आत्म सुख का अनुभव नही कर पाते । कदाचित् इस जीव को पूर्व पुण्य के निमित्त से, पाप का उपशम हो जाने से देव, गुरु तथा शास्त्र के संयोग मिलने पर व्यवहार रत्नत्रय के साधनभूत व्रत, नियम, सयम, दान तथा पूजा आदि के द्वारा पुण्योपार्जन करने से इन्द्र, चक्रवर्ती की अनेक भोग सामग्री प्राप्त हुई। परन्तु यह भी सुख क्षणिक होने के कारण सुखाभास मात्र है। यह सुख बन्धन के लिये कारण है इन दोनो मे पुण्य व पाप का ही अतर है। पुण्य थोडे दिन के लिए सुख रूप में दृष्टिगोचर होता है और पाप तत्काल ही दुखदाई होता है। पर ये दोनो बन्धन ही है। जिस प्रकार भारवाहक मनुष्य के लिए चंदन तथा

बवूल इन दोनो काष्ठो का बोझ ही है, केवल चदन मे सुगधि है और बवूल सुगधिरहित है, लेकिन उसके लिए दोनो बोझ ही है। उसी प्रकार पुण्य और पाप दोनो इस जीव को बाधने के लिए कारण है। इसलिए ज्ञानी मनुष्य जब इन दोनो (पाप पुण्य) को त्यागकर अपने स्व स्वरूप मे लीन होता है तब वह सुखी हो जाता है।

यहाँ कोई शिष्य शका करता है कि तत्वज्ञानियो ने भोगो को नही भोगा ऐसा तो सुनने मे नही आया अर्थात् तत्वज्ञानियो ने भी भोग भोगे है ऐसा पुराणो मे सुना है तब आपके इस उपदेश की कैसे श्रद्धा की जाय कि कौन बुद्धिमान इन विषयो का भोग करेगा ?

इस पर आचार्य कहते है कि बुद्धिमान लोग काम अर्थात् अतिशय विषय नही सेवते। इसका तात्पर्य यह है कि तत्वज्ञानी भोगो को हेयरूप श्रद्धान करते हुए भी चारित्र मोह के तीव्र उदय से उन भोगो को त्यागने के लिए असमर्थ होते हुये ही सेवते है, परन्तु उनके चित्त मे ज्ञान वैराग्य की भावना सदा जाग्रत रहती है उस भावना के वल से जब उनका चारित्र मोह मन्द हो जाता है, तव इन्द्रिय ग्रामो को समेट कर अर्थात् सयम धारण कर शीघ्र ही आत्म कार्य के लिए उत्साहित हो जाते है। इस प्रकार जो जीव उपरोक्त दोनो प्रकार के बन्धनो को त्याग कर विशुद्ध आत्म भावना मे रत हो जाते है, वे ही धन्य है ।।१३।।

ओर्व ब्राह्मण भावदिं मदिरेयं कंडोडुवं मत्तमि ।
न्नोर्व बवेर बुद्धियिदद नदेंतु विट्टरन्नोळपडा ॥
इवर्गंगड मातृ शूद्रिकेये शूद्रजाति भेदभ्रमा ।
खर्वचेष्टिसुवंतेक्रमे विधियुं निर्वाण लक्ष्मीपती ॥१४॥

अर्थ—हे निर्वाण मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति अरहत भगवान् ! आपने यह समझाया है, कि एक मनुष्य शुद्ध ब्राह्मण के समान शुद्ध आचरण से मद्य-मास को देखकर घृणा करता है और उसका दूसरा भाई अपने अज्ञान से कभी उस पर घृणा न करते हुए हमेशा उसका सेवन करता है। विचार पूर्वक देखा जाय तो इन दोनो को जन्म देने वाली माता एक ही है. अन्य नही है और वह माता शूद्र नही है। ऐसा होते हुए भी इस जाति भेद के कारण अभिमानी लोग ऊच नीच भावना करते है। ऐसी भावना होना कर्म की विचित्रता के कारण है ऐसा जानना चाहिए। शुद्धोपयोगी जीव को पाप और पुण्य दोनो ही हेय है ॥१४॥

विवेचन—जैसे शुद्ध ब्राह्मण वर्ण की ब्राह्मणी से दो पुत्र उत्पन्न हुए परन्तु उनमे शुद्ध ब्राह्मण के समान आचरण करने वाला एक मास, मद्य को देखकर घृणा करता है और दूसरा उससे घृणा न करके अज्ञान से शूद्र के समान सेवन करता है। परन्तु उनकी माता शूद्र नही है। दोनो की एक ही माता है, उसी प्रकार द्रव्यार्थिक दृष्टि से देखा जाय तो शुद्धात्मा दोनो के अन्दर समान ही है, कर्म की विचित्रता के कारण दोनो भिन्न भिन्न

मालूम होते है ।

इस प्रकार यह जीव कर्म के कारण ऊच नीच ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र नाना प्रकार के वर्ण विकल्प को मानकर ऊच नीच की भावना करता है। कहा भी है —

जातिदेहाश्रिता दृष्टा देह आत्मनो भव ।
न मुच्यन्ते भवात्तस्माद्ये ते जातिकृतावहा: ।।

अर्थ ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये सभी वर्ण शरीर के आश्रय देखे जाते है और शरीर ही आत्मा का ससार है। जो अज्ञानी जाति ही मोक्ष का कारण है ऐसा हठ करते है, वे इस ससार से नही छूटते है।

यहा पर भी यही भाव है कि जिसके दिल मे यह विकल्प है कि मै ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ऊचे वर्ण का धारी हूँ उसके निर्विकल्प आत्मानुभव रूप समाधि भाव नही हो सकता। जब उपयोग जाति के अहकार से हटकर अपने शुद्ध आत्म स्वरूप मे तन्मय होता है तब ही निश्चय रत्नत्रय रूप भाव होता है। जिसके बल से कर्मों की निर्जरा होती है और आत्मा मोक्ष के सन्मुख होती है। उच्च जाति होना यह व्यवहार नय से चारित्र के लिए मोक्ष मार्ग कहा है, निश्चय नय से नही। उसका भाव यह है कि दिगम्बर मुनि हुए विना ऊचा मोक्ष का साधन नही हो सकता है। जिसको व्यवहार मे ऊचा वर्ण माना गया है अर्थात् जो ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य वर्ण लोक मे ऊचा माना जाता है, ऐसा

उसी के होना सम्भव है जिसके भीतर दानवृत्ति नही है जो शूद्रो के पाई जाती है। इसलिये उच्च वर्णों को मुनि की दीक्षा दी जाती है। मुनि की दीक्षा लेना यह व्यवहार चारित्र है, जिसकी आवश्यकता इसके पहले श्लोक मे कही जा चुकी है। जो कोई व्यवहार चारित्र को ही धार कर मै मुक्त हो जाऊगा ऐसा अभिप्राय रखता है उसका इस श्लोक मे निषेध है। वह केवल व्यवहार के विकल्प से मोक्ष के योग्य स्वात्मध्यान नही कर सकता है। उसको यह जातिपने का विकल्प भी छोडकर निर्मल आत्मानुभव की भावना मे लीन होना होगा तभी वह मोक्ष का पात्र हो सकता है। इसलिये निरतर आत्मस्वरूप की भावना करनी चाहिये।

जो ऐसा विकल्प करता है और कहता है कि ब्राह्मणादि जातिधारी ही साधु भेष का धारी हो सकता है, और वही निर्वाण प्राप्त कर सकता है, उनकी भी मुक्ति नही हो सकती।

जाति-लिग विकल्पेन येषा च समयाग्रह ।
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परम पदमात्मन ।।

भावार्थ—यहा पर आचार्य ने शिष्य के इस अहकार को छुडाया है कि उसके मन मे ऐसा विकल्प हो कि मै उत्तम जातिधारी व साधु लिगधारी हूँ इससे मै अवश्य मुक्त हो जाऊगा ऐसा आगम मे कहा है। यद्यपि व्यवहार नय से उत्तम वर्ण मुनि भेष को मुक्ति का कारण कहा है, परन्तु ये दोनो केवल बाहरी निमित्त

है ये स्वय मुक्ति के कारण नही। इनके होते हुए सर्व पर वस्तु के ममत्व से रहित आतमा की अपने शुद्ध स्वरूप मे स्थिति होना ही मोक्ष का मार्ग है, क्योकि वहा पर अभेद या निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति होती है। उत्कृष्ट पद परम पवित्र आत्मा का स्वभाव है इसलिये उसका साधन भी वह निर्मल भाव है जो सर्व पदार्थो के ममत्व व किसी प्रकार के अहकार व ममकार से रहित है। मै मुनि हूँ, त्यागी हूँ, ऊचा हूँ, पूजनीय हूँ, ऐसा भी जहा अहकार है, वहा मानभाव होने से शुद्ध स्वरूप मे रमण नही होता है। इसीलिये कहा है कि सर्व विकल्पो को त्याग कर निर्विकल्प होकर शुद्धात्म स्वभाव मे कल्लोल करना ही मोक्ष का साधक है।

परमपद की प्राप्ति के लिए उत्तम जाति आदि सहित शरीर मे निर्ममत्व सिद्ध करने के लिये भोगो को छोडा जाता है। जो कोई इन इन्द्रियो के भोगो को छोडकर फिर भी मोह के आधीन होकर शरीर मे ही प्रीति करते है उनके लिए आचार्य कहते हैं कि —

यत्त्यागाय [निवर्तन्ते भोगेभ्यो यद्दृप्तये।
प्रीति तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्र मोहिन ॥

भावार्थ—यह वडे भारी तीव्र मोह का महात्म्य है कि जिससे ससारी प्राणी एक वार शरीर से ममता हटाने व वीतरागभाव प्राप्त करने के लिए इन्द्रिय विषय भोगो को त्याग देते है फिर भी मोह के उत्पन्न होने पर उसी शरीर मे प्रीति करते हैं तथा

वीतराग भाव से अरुचि बाध लेते है। यहा पर कहने का तात्पर्य यह है कि परिग्रह व आरम्भ का त्याग कर मुनि की दीक्षा इस-लिए धारण की जाती है कि निर्विकल्प होकर वीतरागभाव के साधन के लिए अभ्यास किया जाय और पुन २ आत्मानुभव का लाभ किया जाय। जिस आत्मानुभव का कारण शरीर आदि पर पदार्थो से भेद ज्ञान होना है। भेद ज्ञान का अर्थ ही यह है कि अपने स्वरूप को उपादेय और पर को हेय जान कर अपने स्वरूप को ग्रहण कर लेना और पर को त्याग देना।

यदि कोई मुनि की दीक्षा धारण करके फिर भी शरीर से, शरीर के भेष से, शरीर की जाति से मोह करे और उन्ही का अहकार करे तो फिर उसकी अवश्य वीतराग शुद्ध आत्मस्वरूप से अरुचि हो जाती है। इसमे उसके मिथ्यात्व व राग का उदय ही कारण है। आचार्य का उपदेश यह है कि शरीर जाति व भेष का अभिमान छोड़कर उसे केवल निमित्त मात्र जानकर सिवाय अपने आत्म स्वरूप के और किसी अन्य से राग न करना चाहिए। अभेद रत्नत्रय स्वरूप आत्मा के एक शुद्धभाव को ही मुक्ति का कारण जान करके उसी का अनुभव करना चाहिए।

इस प्रकार कर्म कल्पित जो ब्राह्मणादि भेद हे तथा पुरुष लिगादि जो तीन लिंग है वे यद्यपि व्यवहार नय के द्वारा देह सम्बन्ध से जीव के कहे जाते है, पर शुद्ध निश्चय नय से आत्मा से भिन्न है। और त्यागने योग्य है। उनको निर्विकल्प समाधि से रहित सम्यग्दृष्टि जीव अपना जानता है पर उनको मिथ्यात्व से

रहित सम्यग्दृष्टि जीव अपना नही जानता वह अपने आपको ज्ञान स्वरूप समझता है।

इस प्रकार शुद्धात्म दृष्टि से देखने पर शुद्धोपयोगी सम्यग्दृष्टि जीव के मन मे किसी प्रकार का भेदभाव नही है। इसलिये हे जीव! कर्मकृत ऊच नीच भावना को छोडकर एक शुद्धस्वरूप का ही ध्यान करो ऐसा भगवान ने समझाया है ॥१४॥

निहत पापदे दुर्गतित्वमदरि नानाविध दुःखदु ।
भर माद्रुःखदिनार्तरौद्र परिणाम तद् विभावोदयं ॥
पि रेदप्पोंद्ग्रबध हेतुव दरिंद् देव पापकूकेक ।
णवरियं माडुवल्ल निन्ननुचरनिर्वाण लक्ष्मीपती ! ॥१५॥

अर्थ—हे मोक्षलक्ष्मी के अधिपति अनन्त भगवान्। हमेशा पाप से दुर्गति व दुर्गति से नाना प्रकार के दु ख समूह तथा दु'ख से आर्त्त, रौद्र परिणाम जीवात्मा के हुआ करते है। उससे होने वाले विपरीत फल व उस फल से अनेक तीव्र पाप का बन्ध होता है। इसलिये आपके भक्तगण पाप की ओर दृष्टि नही रखते हैं, ये पापो से सर्वदा भयभीत रहते है ॥१५॥

विवेचन—यह ससारी जीव अनादि काल से मिथ्यात्व के कारण सर्वदा पापो का ही सचय किया करता है तथा उसे पाप से अनेक वार नरक मे नाना प्रकार के दु ख उठाने पड़ते है। यदि उस नरक की ओर दृष्टिपात किया जाय तो हृदय कपायमान हो उठता है। वहाँ पर नारकी जीवो के शरीर को नारकी अस्त्र

शस्त्र से टुकडे टुकडे कर देते है, उनके हाथ पाव को बाधकर अग्निकुंड मे डाल देते है, उनके मस्तक से लेकर पैर तक तीखे आरे से चीर कर दो भाग करके खौलते हुए तेल के कढ़ाहे मे डाल देते है। पुन नमक, सरसो काली मिर्च, सोठ तथा चूना मिला कर उनके शरीर मे लेप करके निर्दयता पूर्वक उन्हे खूब पीटते है। तत्पश्चात् इस चमडे को शरीर से अलग कर देते है, वार वार कोल्हू मे डालकर उसे पेरते है, पुन लोहे के सलाखो को अग्नि मे लाल करके उसके शरीर मे खोस देते है, तलवार से शरीर के टुकडे टुकडे करके फेक देते है और फिर उन टुकडों को इकठ्ठा करके एक मे मिला देते है तथा जलती हुए अग्नि मे डाल देते है। पुन वहा से निकाल कर खौलते हुए तेल को उन्हे पिलाते है तथा दोनो आखो मे अग्नि की चिनगारी रखते है। तदनतर लकड़ी की भाति उसे बसूले से छीलते है। तब उस जीव को सिह रीछ कुत्ता आदि के बीच मे छोड देते है। ये जीव उसे चारो ओर से नोचते है।

इस प्रकार कोई हाथ काटता है, कोई गला, कोई शिर कोई शरीर का रुधिर निकालकर पीने लगता है तथा कोई अगुली काटकर नाना प्रकार का दु ख देता है। जिस प्रकार लुहार लोहे को लाल करके लोहे को घन से पीटता है, उसी प्रकार इस जीव को खूब पीटते है। इन दु खो से दुखी होकर जब जीव इधर उधर भागता है तब उसके रास्ते मे अनेक प्रकार के बड़े बड़े लोहे के काटे बिछा देते है, वे पैरो मे चुभ जाते है। इसके

साथ साथ चारो ओर अग्नि जलती रहती है, और इस जीव के साथ बडी बडी मक्खियाँ लगी रहती है । जब इस जीव को प्यास लगती है तब चूना मिला हुआ पानी पिलाते है। इस प्रकार इन पापी जीवो को नरक मे लेश मात्र भी विश्राम नही मिलता। पुन इस जीव को शूली पर चढ़ाकर नीचे से आग लगा देते है। मारो मारो! पीटो पीटो! पकडो पकडो! ऐसा कहते हुए नारकी उसे चारो ओर से घेर कर पकड लेते है तथा जिस प्रकार कुम्हार चाक पर मिट्टी घुमाता है उसी प्रकार घुमाते है और चावल की भाति ओखली मे रखकर मूसल से कूटते है। बाद मे इसको एक जगह मार कर फेक देते है। वहाँ पर गीध चील तथा अनेक प्रकार के भयकर कौवे आकर नोचते है। उनसे व्यथित होकर जीव को ऐसी प्यास लगती है कि सम्पूर्ण समुद्र को पी जाय तो भी वह बुझ नही सकती। इस प्रकार नरक मे जीवो को नाना प्रकार के दु ख भोगने पडते है। इन दु खो को भोगने के अनन्तर किंचित् पुण्योदय होनेसे यह जीव एकेन्द्रिय शरीर धारण करता है। उसकी आयु पूर्ण होने पर दो इन्द्रिय शरीर धारण करता है। उसकी आयु पूर्ण होने पर तीन इन्द्रिय शरीर धारण करता है तथा उसकी आयु समाप्त करके चतुरिन्द्रिय शरीर धारण करता है। इन सब के अनन्तर पचेन्द्रिय शरीर धारण करके परतन्त्र होकर बोझा लादते हुए अनेक प्रकार की भूख प्यास को सहन करना पडता है। तत्पश्चात् पाप के कारण अधम मनुष्य के यहाँ जन्म लेता है और

उस शरीर से भी विविध पाप सचित करके पुन पुन नरकगामी होता है। तब वहाँ से आर्त्त व रौद्र ध्यान आदि अशुभ भावनाओं के द्वारा नरक मे जाकर चक्र के समान इधर उधर घूम कर दु.ख उठाया करता है।

जब तक जीव अपने स्वरूप से रहित होकर पर वस्तु मे रमण करता है, तब तक ससार सम्बन्धी परवस्तु मे ममत्व भाव करके उसी के पीछे आर्तध्यान रौद्र ध्यान करके अपने आत्मा के बाधने योग्य कर्मों का संचय कर लेता है और उसके निमित्त तीव्र पाप का बन्ध कर लेता है और उसके निमित्त से अनेक बार नरक निगोद मे जाकर उत्पन्न होता है। जब तक अपने निज शुद्धात्म स्वरूप की पहचान नही होती तब तक पराधीन होकर पाप रूपी कु ड मे पड़कर सडता रहता है। भाव यह है कि —

भुक्तोज्भिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गला.।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञास्य का स्पृहा ॥

यह जीव अनादि काल से कर्मो के बन्धन मे प्रवाह की अपेक्षा पडा हुआ है, अनादि काल से ही इसको ससार से मोह हो रहा है। मिथ्यात्व कर्म के जोर से इसे कभी भी अपने स्वभाव का ज्ञान नही हुआ। यह जिस शरीर से उत्पन्न हुआ उसी को अपना मानकर के उसके भोग मे रत हो गया । आयु कर्म की समाप्ति होने पर उसको छोड़ना पडा, फिर दूसरे शरीर मे प्राप्त होकर वैसी ही अज्ञानता की। परन्तु कभी भी भेद-ज्ञान का लाभ नही

किया । इस तरह इस अज्ञानी जीव ने अनादि काल से इतने शरीर धारण किये है कि कोई पुद्गल ऐसा नही रहा जो इसने कभी न कभी ग्रहण न किया हो । यह तैजस, कार्मण व औदारिक, वैक्रियिक, आहारक व भाषा व मन रूप से परमाणुओ को वार वार ग्रहण करके छोडता गया । जैसे सब पुद्गल वार वार भोगे जाने से उच्छिष्ट हो गये, वैसे इन्द्रियो के भोग भी वार वार भोगे जाने से उच्छिष्ट सम हो गए ।

ज्ञानी विचारता है कि जगत मे ऐसा नियम है कि जो भोजन किसी ने अपना मुह लगा कर जूठा कर दिया तो फिर आप व दूसरा उसे नही खाता है । जो माला एक दफे पहन ली उसे आप व दूसरा कोई भी नही पहनेगा । यदि कदाचित् किसी लाचारी से उच्छिष्ट पदार्थ का फिर भी भोग करे तथापि भोगने वाले की वाछा ऐसे जूठन मे नही होती है। वह तो शुद्ध भोजन माला आदि जो किसी के भी भोगे हुए न हो उन्ही की इच्छा करता है, वह भोगे हुए पदार्थ की इच्छा नही करता है, तब जिन शरीर आदि पुद्गलो को मैने वारवार भोगकर उन्हे उच्छिष्ट कर दिया तव उनमे अब मेरी इच्छा कैसे हो सकती है ? जब तक मै अज्ञानी वालक के समान था तब तक मैने जूठे पदार्थो को भी सच्चा जाना और उपादेय मानकर भोग किया । जैसे अबोध छोटा वालक सच्चे जूठे का ज्ञान न रखता हुआ एक दफे खाये पदार्थ को फिर भी खाता है उसके मन मे ग्लानि नही आती, वंसे मैने भोगे हुए पदार्थो का भोग किया और कुछ भी ग्लानि नही

आयी। किन्तु जैसे समझदार मनुष्य उच्छिष्ट भोजन का कभी ध्यान नही करता है, वैसे अब जब मैने तत्वज्ञान के बल से पदार्थो का सच्चा स्वरूप जानकर पुद्‌गलादि मे हेय तथा आत्मा मे उपादेय बुद्धि की है तब मेरी इच्छा उन उच्छिष्ट पुद्‌गलो मे कैसे हो सकती है ? अर्थात् कभी नही हो सकती है। तत्वज्ञानी पदार्थो के यथार्थ स्वरूप को विचार करके पदार्थो से ममत्व छोड देता है और वीतराग भाव को अपने मन मे जमा लेता है। बाद मे उसकी तरफ दृष्टि नही डालता है। क्योकि पुद्‌गल तथा जड पदार्थ के सयोग से ही अनेक पापो का सचय करके अनेक दु ख भोगने पडे। तब बडी कठिनाई से ही उससे छुटकारा पाकर सच्चे धर्म का सहारा लिया है। वह जानता है कि इस धर्म को छोडकर अगर चला गया तो मुझको पहले के समान फिर दु ख उठाना पडेगा। इसलिये अपने निजस्वरूप का या वस्तु स्वरूप धर्म का सहारा नही छोडता और वह सच्चा भक्त बन जाता है। वह बार बार सच्चा आश्रय देने वाले भगवान की प्रार्थना करता है कि —

जन्मोन्मार्ज्य भजतु भवत पादपद्‌म न लभ्यं।
तच्चेत्स्वैरं चरतु न च दुर्देवता सेवता स ॥
अश्नात्यन्नं यदिह सुलभं दुर्लभ चेन्मुधास्ते।
क्षुध्यावृत्यै कवलयति क कालकूटं बुभुक्षु ॥

अर्थ– हे देव! भव्य जीवो को जन्म मरण रूपी दु:ख को नष्ट करने वाले आपके चरण कमलो का ही सेवन करना

चाहिये। यदि कदाचित् आपके चरण कमल प्राप्त न हो सके तो फिर वे भले ही स्वच्छन्दता पूर्वक आचरण करे। परन्तु उनको कुदेवो की सेवा नही करनी चाहिए। क्योकि ससार मे सुलभ जो अन्न है उस अन्न को ही सब लोग खाते है। यदि उस अन्न का मिलना दुर्लभ हो जावे तो वे भूखे ही बैठे रहते है। कारण कि ऐसा कौन पुरुष होगा जो कि क्षुधा को दूर करने के लिए विष को खायेगा। फिर भी भगवान के चरण मे भक्त लोग याचना करते है कि —

न स्नेहाच्छरण प्रयान्ति भगवन्पादद्वय ते प्रजा ।
हेतुस्तत्र विचित्र दु खनिचय ससार घोरार्णव ॥
अत्यतस्फुरदुग्ररश्मि-निकर-व्याकीर्ण-भूमडलो ।
ग्रैष्म कारयतीन्दुपाद सलिलच्छायानुराग रवि ॥

निरुतं पुण्यदे भोगमक्कु मदिरिंद तृष्णे तृष्णार्तियिं ।
परवस्तु प्रकरानुभूतियदरिंरागादि रागादियिं ॥
दोरे कोंडास्रव मास्रवं भवनिबद्धं पुण्यमुं पापदो ।
ळ्निरेयायृती विघदिद योनिगे ब्रलं निर्वाण लक्ष्मीपती!॥१६

अर्थ—हे मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति अरहत भगवान् ! पुण्य से सुख की अभिलाषा बारम्बार बढ़ती जाती है। इससे पर वस्तु का भोग व भोग से मोह तथा मोह से कर्मास्रव होता है। और इस कर्मास्रव से ससार का बन्ध होता है। इसलिये पुण्य के सहयोग से भी क्षणिक सुख प्राप्त करके बारम्बार दु ख उठाने पड़ते है तो यह पुण्य भी संसार बन्धन के लिये कारण नही है क्या ? अवश्य ही है।

अर्थात् पुण्य भी ससार बन्धन के लिए कारण है। इस प्रकार आपका अभिप्राय है ॥१६॥

विवेचन—पुण्य से हमेशा सासारिक भोगोपभोग की प्राप्ति होती रहती है। परन्तु यह सुख चार दिन के लिये होता है और वह इन्द्रियो को भोगने योग्य है, विषय वासना को तथा कषाय को बढाने वाला है, मोह को उत्पन्न करने वाला है, पाप को बढाने वाला है, संसार की वृद्धि करने वाला है। और क्षणिक है। अन्त मे दुखदाई है, और आर्तध्यान रौद्र ध्यान को उत्पन्न करने वाला है। इन्द्रिय लालसा को बढाने मे उत्तेजक है। लोभ माया ममता का जनक है। नरकादि चारो गतियो को ले जाने मे

सहकारी है। हमेशा ससार भ्रमण का निमित्त कारण है पुण्य कर्म के द्वारा मिली हुई राजलक्ष्मी, महल, अनेक प्रकार की भोग सामग्री इनका सुख ऐसा मालूम पडता है जैसे मनुष्य के शरीर मे खुजली होने से पहले खुजाते समय बहुत आनन्द मालूम पडता है, परन्तु जैसे २ खुजाते जाते है वैसे वेदना बढती जाती है। बाद मे उस वेदना को सहने मे असमर्थ होकर तीव्र दुखी होता है।

इसी तरह पुण्य कर्म के द्वारा मिला हुआ सुख पहले अच्छा मालूम पडता है, बाद मे उसको भोगते भोगते इन्द्रिय लालसा बढती जाती है और वासनाये प्रदीप्त हो जाती है, जिससे वह अनेक विषय वासनाओ मे फस जाता है। उनके द्वारा होने वाले पाप के निमित्त से वह जीवात्मा नरकादि गतियो का बन्ध भी कर लेता है। पुण्य का उदय होने के कारण कदाचित् देवगति का भी बन्ध कर लेता है, और वहां चार दिन सुख से अपनी आयु को बिताकर अन्त मे मनुष्य गति मे पतन होता है। जैसे मछली पानी से निकाल कर जमीन पर फेकने से तडफती है उसी तरह देवगति से निकल कर निचली मनुष्य गति मे पडते ही सासारिक वेदना से तडपता है,उसे अन्त तक दु ख ही दु ख भोगना पडता है।

यदि फिर भी पुण्य उपार्जन किया जाय अथवा दान पूजा भक्ति स्तुति वदना व्रत नियम सयम तप वगैरह ! , दे चारित्र का पालन किया जाये तो पुन देवगति मिल जाती है। पुन देवगति से मनुष्य गति प्राप्त करते हुए क्षणिक सुख दु ख

का अनुभव करते रहते है। कहा भी है कि—

सत्पात्र दानेन भवेद्धनाढ्यो, धन प्रकर्षेण करोति पुण्यम्।
पुण्याधिकारी दिविदेव राजा पुनर्धनाढ्यो पुनरेव भोगी ॥

अर्थ—सत्पात्र दान पूजा व्रत नियम सयम इत्यादि से धन की प्राप्ति होती है। अर्थात् सत्पात्र दान के प्रभाव से पुण्य की प्राप्ति होती है, और पुण्य के प्रभाव से देवगति का वन्ध होता है। फिर वहा से मरकर मनुष्य गति मे जन्म लेता है, फिर दान पूजा करके देवगति मे वहा से फिर मनुष्य गति मे जन्म लेकर पुन धनाढ्य पुन भोगी इस प्रकार पुण्य कर्म को भोगते हुए शुभ अशुभ क्रिया मे रत होकर भोग मे फसा रहता है। इससे पुण्य ही होता है और ससार की वृद्धि होती है। परन्तु इससे आत्म सिद्धि या आत्म स्वरूप प्राप्त कराने वाले सच्चे निजात्म स्वरूप की प्राप्ति नही हो सकती है। स्वानुभव विना यह जीव हमेशा ससाररूपी महा सागर मे गोता खाया करता है। कहा भी है कि—

झाणट्ठिओ जु जोई जइ णो सम्वेय णियय अप्पाणं।
तो ण लहइ तं शुद्ध मग्गविहीणो जहा रयण ॥

भावार्थ—यहा पर यथार्थ वात वताई जाती है कि यथार्थ आत्म ध्यान उसे समझना चाहिए कि जहा आप आप मे लय होकर अपने आत्मा का अनुभव करे। आप ही के स्वाभाविक आनन्द का रस पान करे। उसी को अपने शुद्ध आत्मा का स्वभाव

मिल गया ऐसा कहा जायगा। क्योंकि वह सर्व पर से छूटा हुआ अपने ही निर्विकल्प अभेद स्वरूप मे तन्मय है। वही बडा भारी पुण्यशाली निकट भव्य जीव है जो स्वानुभव रूपी रत्नत्रय की एकता को पा लेता है।

एक बार अगर इस जीव को स्वानुभव के द्वारा शुद्धात्मा की पहचान हो जाय तो चाहे यह ससार मे रहे या भोग मे फसा रहे। फिर भी वह हमेशा सुखी रहता है। क्योंकि उसे ससार की रुचि नही है। वह उससे बिलकुल घृणा करता है और कर्म का बन्ध उसको नहीं होता है। इसमे अरुचि रखता है, इससे वह थोडे समय मे अपने निज सुख को प्राप्त करके मोक्ष सुख को पाता है।

कोई अज्ञानी ससार का लोलुपी बहिरात्मा जीव ध्यान भी करे परन्तु उस ध्यान मे अपने निज ध्येय पर न आवे, मत्रो पर चित्त रोके या पृथ्वी आदि धारणाओ को करे व पाँच परमेष्ठी का ध्यान करे या सिद्ध का स्वरूप ध्यावे, उन सब साधनो मे उलझा रहे परन्तु अपने ही शुद्ध स्वतत्व पर न पहुचे तो उसे भाग्यहीन कहा जायगा। क्योकि मोक्ष का साधन मुख्यत एक वीतराग स्वसवेदन भाव या शुद्धोपयोग है।

द्रव्यलिंगी मुनि ध्यान का बहुत ही अभ्यास करते है परन्तु मिथ्यात्व कर्म के कारण अपने शुद्धात्मा की प्रतीति रूप सम्यग्दर्शन को न पाते हुए स्वानुभव के सिंहासन पर नहीं पहुच सकते। वे भाव मे बहिरात्मा ही रहते है। यद्यपि मद कषाय से नव ग्रैवेयक

तक जाकर अहमिद्र होने का पुण्य बन्ध कर लेते है तथापि भव-सागर से पार होने के साधन स्वानुभवरूपी जहाज को न पाकर वे मोक्ष का काम नही कर सकते। हमेशा संसार मे भ्रमण करते हुए भटकते है।

सगत्याग कषायाना निग्रहो व्रत धारण।
मनोऽक्षाणा जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मने ।।
ज्ञान-वैराग्य-रज्जुभ्या नित्यमुत्पथवर्तिन ।
जितचित्तेन शक्यते धर्तुमिद्रियवाजिन ।।

भावार्थ—परिग्रह का त्याग, कषायो का निरोध, व्रतो का धारण, मन व इन्द्रियो का जय ये सब सामग्री ध्यान के साधन मे आवश्यक है। जिसका मन अपने वश मे नही है, वह नित्य कुमार्ग मेलें जाने वाले इन्द्रियरूपी घोड़े को ज्ञान व वैराग्य का रस्सियो मे पकड कर वश मे रखने को समर्थ होता है। जब तक वैराग्यरूपी रस्सी इनके हाथ मे नही आयेगो तब तक यह मूर्ख अज्ञानी जीव ससार मे भटकते हुए शुभ अशुभ कर्म के द्वारा अपने आपको बाधकर हमेशा ससार मे फसे रहते है। जब तक पाप पुण्य रूपी रस्सी इस आतमाराम से बधी हुई है तब तक शुद्धात्मा के जहाज पर वह चढ़ नही सकता और मोक्ष महल मे पहुंच नहीं सकता है।

ऊंतुं योनिगे निश्चलात्म सुखदिंदं वळ्केयुं दुःखदिं ।
न्नतातं विपयंगळेतरगुवं नीरिद मीनपिंगेयुं ।।

नयन्ति विफलं जन्म प्रयासैर्मृत्युगोचरैः ।
वराका. प्राणिनोऽजस्र लोभादप्राप्त वाञ्छिताः ॥

अर्थ—पामर प्राणी निरंतर लोभ कषाय के वशीभूत होकर वाञ्छित फल को न पाकर मृत्यु का सामना करने वाले अनेक उपायो द्वारा अपने अमूल्य जीवन-रत्न को व्यर्थ मे ही नष्ट कर देते हैं ।

तत्तत्कारक पारतन्त्र्यमचिरान्नाशः सतृष्णान्वयै-
स्तैरेभिर्निरुपाधि संयमभृतो बाधा निदानै. परैः ॥
शर्मभ्यः स्पृहयन्ति हन्त विषयानाश्रित्य यद्देहिन-
स्तत्क्रुध्यत्फणिनायकाग्रदशनैः कण्डूविनोदः स्फुटम् ॥

अर्थ—यद्यपि विषयजनित पूर्वोक्त सुख को दुःख ही कहा है सो ठीक भी है, क्योकि उस सुख को कारको की पराधीनता है । अर्थात् वह सुख अन्य के द्वारा होता है और तत्काल नाशवान भी है तथापि ये संसारी जीव उपाधि रहित संयम के धारक होने पर भी तृष्णा के साथ सम्बन्ध करते हुए वाधा के कारण ऐसे अन्य धनादिको के द्वारा सुख के लिए विषयो की इच्छा करते हैं, सो क्या करते है कि मानो क्रोधायमान नागेन्द्र के अगले दातो से—विष के दाँतो से—खुजलाने का साक्षात् विनोद ही करते हैं ।

निःशेषाभिमतेन्द्रियार्थरचनासौन्दर्यं बध्नानतः ।
प्रीतिप्रस्तुतलोभलङ्घितमना को नाम निर्वेद्यताम् ॥

असमाकन्तु नितान्तघोरनरकज्वालाकलाप. पुर ।
सोढव्य कथमित्यसो तु महती चिन्ता मन कृन्तति ॥

अर्थ—अहो ! खेद है कि समस्त मनोवांछितेन्द्रियो के विषयों की रचना के सौन्दर्य से जिसका मन बधा हुआ है तथा प्रीति के प्रस्ताव (चक्र) में आने से लोभ के द्वारा खंडित हो गया है मन जिसका, ऐसे जीवो मे से ऐसा कौन है, जो विषयो से उदासीन होने के लिए तत्पर हो।

यहां आचार्य महाराज कहते हैं कि हे संसारी जीव ! तुम विषयो से विरक्त तो नही होते, किन्तु इन विषयो से उत्पन्न हुए अतिशय रूप तीव्र नरकाग्नि की ज्वाला समूह को भविष्य काल मे किस प्रकार सहन करोगे ? यह महा चिन्ता हमारे मन को दुखित कर रही है।

मीना मृत्युं प्रयाता रसनवशमिता दन्तिन स्पर्शरुद्धाः ।
वद्धास्ते वारिवन्धे ज्वलनमुपगता पत्रिणश्चाक्षिदोषात् ॥
भृंगा गंधोद्धताशा. प्रलयमुपगता गीतलोला. कुरंगा ।
कालव्यालेन दष्टास्तदपि तनुभृतामित्यहोऽर्थेषु रागः ॥

अर्थ—अरे देखो, रसना इन्द्रिय के वशीभूत होकर मछली मृत्यु को प्राप्त हुई और हस्ती स्पर्शन इन्द्रिय के वशीभूत हो गड्ढे मे बाधा गया तथा नेत्र इन्द्रियो के विषय दोष से पतग दीपक की ज्वाला मे जलकर मर गये और भ्रमर नासिका इन्द्रिय के वशीभूत होकर सुगध की आशा से नाश को प्राप्त हुआ। इसी प्रकार हिरन

भी गीत मे लोलुप हो कर्णेन्द्रिय के विषय से काल रूपी सर्प से मारा गया। ऐसे एक एक इन्द्रिय विषय के द्वारा सभी जीव नष्ट होते देखे गये, किन्तु आश्चर्य है कि इस उत्तम कुल मनुष्य जन्म-रत्नको पाकर प्राणी अनुपम सुख अर्थात् आत्म सिद्धि छोडकर क्षणिक संसारी सुखो के पीछे ही पडे रहते है।

निर्विकल्प आत्म-समाधि ही कर्मो के नाश की कारण है—

स्वपुरोपार्जितपुण्यपापवशदिंसौख्यावहंगळ्दु ।
ळ्दुप भोगक्कुवंदोडागळ्खिळ्ळासन्नभव्यं निर ॥
स्तपुरोबंधन हेतुभूतरति विद्वेषं निजात्मस्थितं ।
र्चापियिक्कु कृतकर्ममं तदनुगं निर्वाण लक्ष्मीपती ! ॥ १८

अर्थ—मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति हे अरहन्त भगवान् ! आपके द्वारा पूर्व जन्म मे सपादन किये हुए पुण्य और पाप से सुख दु.ख का अनुभव करते समय सम्यक्ज्ञानी आसन्न भव्य जीव पहले अपने कर्म बन्ध के कारण रागद्वेष को छोडकर अपने आत्म चितन मे निमग्न होता है और पश्चात् अनादि काल से अपने साथ लगे हुये कर्मो का नाश करता है ॥१८॥

विवेचन—पूर्व जन्म मे उपार्जन किये हुए पुण्य और पाप का अनुभव करते हुए सम्यक्ज्ञानी आसन्न भव्य जीव पहले अपने कर्म बन्ध के कारणभूत रागद्वेष को छोड़कर अपने आत्म चितन मे लीन होता है, फिर अनादि काल से अपने साथ लगे हुए कर्म को नाश करता है।

प्रश्न—ज्ञानी पर वस्तु को क्यो नही ग्रहण करता ?

समाधान—जिस कारण यह ज्ञानी है उससे वह पुरुष नियम पूर्वक यह जानता है कि उसका स्व ही उसका धन तथा द्रव्य है और उसी स्वभाव के पूरे द्रव्य का वह स्वामी है । ऐसी सूक्ष्म तीक्ष्ण तत्वदृष्टि के अवलम्बन से आत्मा का परिग्रह अपना स्वार्थ स्वभाव ही है। वह ऐसा जानता है । वह ज्ञानी पर द्रव्य को ऐसा जानता है कि यह मेरा स्व नही है। मैं इसका स्वामी नही हूँ। इस कारण पर द्रव्य को अपना नही मानता । वह पर द्रव्य को ग्रहण नही करता।

भावार्थ – लोक मे यह रीति है कि समझदार पुरुष पर पदार्थ को अपना नही मानता तथा उसे ग्रहण नही करता। इसी तरह परमार्थी ज्ञानी अपने स्वभाव को ही अपना जानता है, पर को अपना नही जानता अतएव वह पर द्रव्य का सेवन नही करता।

यदि अजीव द्रव्य को मै ग्रहण करू तो यह अजीव द्रव्य मेरा स्व अवश्य हो जाय और मै भी ऐसे अजीव का अवश्य स्वामी ठहरूं, क्योकि यह नियम है कि अजीव का स्वामी निश्चय से अजीव ही होता है। इसलिये मुझे भी अजीवपना अवश्य आ पडेगा। अतएव एक ज्ञायक भाव ही मेरा स्व है और मै उसी का स्वामी हूँ, जिससे मुझे अजीवपना न हो। मै सर्वदा ज्ञानी रहकर पर द्रव्य को ग्रहण नही करूंगा यह मेरा निश्चय है।

ज्ञानी पुरुष पर द्रव्य के बिगड़ने व सुधरने से हर्ष विषाद नही करता। इस प्रकार सामान्यत सभी परिग्रहो को छोडक

स्व पर के अविवेक के कारणभूत अज्ञान को छोड़ने का जिसका मन है, ऐसा ज्ञानी इन परिग्रहो को विशेपत पृथक् छोड़ने के लिए प्रवृत्त होता है ।

यहा शिष्य शका करता है कि तत्वज्ञानियो ने भोगो को नही भोगा ऐसा तो सुनने मे नही आया अर्थात् तत्वज्ञानियो ने भी भोग भोगे है ऐसा पुराणो मे सुना है, तव आपके इस उपदेश की कैसे श्रद्धा की जाय कि कौन बुद्धिमान इन विषयो का भोग करेगा ? इस पर आचार्य कहते है कि बुद्धिमान लोग काम को अतिशय रूप से नही सेवते। इसका तात्पर्य यह है कि तत्वज्ञानी भोगो को हेय रूप श्रद्धान करते हुए भी चारित्र मोह के तीव्र उदय से उन भोगो को त्यागने के लिए असमर्थ होने के कारण सेवन करते है, परन्तु चित्त मे ज्ञान वैराग्य की भावना सदा जागृत रहती है। इस भावना के बल से जव उनका चारित्रमोह मंद हो जाता है तव इन्द्रिय ग्रामो को समेट कर अर्थात् सयम धारण कर शीघ्र ही आत्म कार्य के लिए उत्साहित हो जाते है । जैसा कि कहा है—

इद फलमियं क्रिया करणमेतदेप क्रमो ।
व्ययोऽयमनुषगजं फलमिदं दशेयं मम ।।
अयं सुहृदय द्विपन् प्रयति देश कालाविमा—
विति प्रति वितर्कयन् प्रयतते बुधो नेतर ।।

भाव यह है कि ज्ञानी बुद्धिमान मनुष्य ही इस जगत में

निम्नलिखित बातो का अच्छी तरह विचार करता हुआ आचरण करता है, अज्ञानी ऐसा कभी नही कर सकता ।

१—यह फल है २—यह क्रिया है, ३—यह कारण या उपाय है, ४—यह उसके करने का क्रम है, ५—यह हानि या खर्च है, ६—यह उसके सम्बन्ध से फल है, ७—यह मेरी दशा है, ८—यह मित्र है, ९—यह शत्रु है, १०—यह ऐसा देश है, ११—यह ऐसा काल है।

अर्थात् तत्वज्ञानी धर्म का स्वरूप समझकर उसका आचरण द्रव्य क्षेत्र तथा काल भाव को देखकर करता है।

यदि सर्वथा त्याग कर साधु व्रत धार सके तो धारता है अन्यथा गृहस्थ मे रहकर हेय बुद्धि से भोग भोगता हुआ श्रावक धर्म को पालता है ।

भावार्थ—आचार्य ने शिष्य के परिणामो को भोगो से हटाने के लिए और आत्म हित मे लगाने के लिए ऐसा उपदेश दिया है कि यदि तू यह कहे कि भोगोपभोग ससार मे सुख के कारण हैं इससे इनको प्राप्ति के लिए तो धन कमाना ही चाहिए, किन्तु तेरा यह मानना भी मिथ्या है, क्योकि ये सासारिक भोग अज्ञान से सुखदाई मालूम होते है,परन्तु ये दु ख के ही कारण है क्योकि पहले तो विशेप भोग और उपभोग के पाने की इच्छा होती है। यह इच्छा ही दु ख है। फिर जब तक यह इच्छा पूरी नही होती तब तक आकुलता रहती है तथा जब तक आकुलता रहती है तब तक ईप्सित भोग सामग्री के लिए खेती, वाणिज्य, सेवा और कठिन

कठिन उपाय करके धन कमाता है। जिस धन कमाने के कार्य में बहुत कुछ शारीरिक और मानसिक आताप सहता है। बहुतो को इस धन प्राप्ति के होने मे बहुत विघ्न आ जाते हैं। कदाचित् बहुत कष्ट उठाने व पूर्व पुण्योदय से धन भी पैदा हो गया तो ईप्सित भोगोपभोग सामग्री को इकठ्ठा करने के लिए बहुत कष्ट उठाना पडता है। बहुत कष्ट से मन पसन्द स्त्री, मकान, वस्त्र, सम्बन्धी तथा नौकर चाकरादि प्राप्त होते हैं। इस तरह भोग सामग्री के एकत्र करने ही में बड़ा कष्ट होता है, बड़े कष्ट से भोगो को पाने पर उनको पाचो इन्द्रियो से भोगने की चेष्टा करता है। यदि कोई इन्द्रिय भोगने मे असमर्थ होता है तो महान् कष्ट प्राप्त करता है। इन्द्रियो के द्वारा भोग भोगते भोगते भी इच्छा मन्द नही होती और अधिक तृष्णा बढ़ती चली जाती है। जिससे और अधिक मनोज्ञ सामग्री को इकठ्ठा करने की आकुलता करता है। कदाचित् फिर भी मनोज्ञ सामग्री मिली और इन्द्रियो की शक्ति न घटी तो फिर उसे भोगते ही भोगते अन्य किसी मनोज्ञ भोग की इच्छा बढ़ जाती है। इस तरह कभी भी इसकी तृष्णा रूपी अग्नि शात नही होती। उधर शरीर जराक्रान्त होकर छूटने के सन्मुख हो जाता है; पर इच्छा का स्रोत बढ़ता ही चला जाता है। भोगते भोगते यदि कोई योग्य सामग्री नष्ट होने व बिगडने लगती है तो भोक्ता का उसके वियोग का महान् कष्ट होता है।

और यदि कहो अपनी आयु पूर्ण हुई और उन सामग्रियो का

छोडना पडा तो और भी महान दु ख होता है। फिर इन भोग सम्बन्धी इच्छाओ के होने पर व इनको भोगते हुए तीव्र राग होने पर तथा इनके वियोग मे आर्तध्यान होने पर जो तीव्र राग द्वेष के परिणाम होते है उनसे यह प्राणी अशुभ नाम, नीच गोत्र असाता वेदनीय तथा अशुभ आयु बाध लेता है जिससे नरक, पशु कुत्सित मनुष्य गति मे चिरकाल तक भ्रमण कर असह्य वेदनाओ को सहन करता है।

ये भोग सदा ही आकुलता और दु ख के कारण हैं। कर्मभूमि (भूमि) के मनुष्यो को तीनो ही तरह से दु ख होता है अर्थात् उनकी प्राप्ति करने का, होने पर तृप्तता न पाने का तथा दु.ख पूर्वक उनको त्यागने का। परन्तु भोग भूमि के मनुष्य और सर्व देवो को विषय भोगो की प्राप्ति का कष्ट तो नही है, किन्तु तृप्ति न पाने का तथा दु ख पूर्वक छोडने का दु ख तो अवश्य है। देव-गण मरण के ६ मास पहले अपनी माला मुरझाई देख वहा के भोगो को छूटता मालूम कर महा विलाप करते हैं, जिसका कारण भी यही है कि भोगते हुए भी उनके मन की तृप्ति नही हो पाई है। इस तरह आर्तध्यान से देवता गण कोई एकेन्द्रिय, कोई द्विइन्द्रिय आदि गतियो मे पडकर अनेक दु ख उठाते है।

जाति लिग आदि के अभिमान से जीवो को मोक्ष की प्राप्ति नही होती —

विदितं भविसे ज्याति लिंग मेरडुं देहश्रितं देहम ।
प्पोडे जीवक्के भवप्रबंध मदरिंदं ज्याति लिंगगळों ।।
प्पुदि वोंदाग्रह मुळ्ळवभेंवदे पिंगपिंगुवशुद्धचि ।
त्पद मोंदल्लदुदेल्लमं विसुटवर्निर्वाण लक्ष्मीपती ! ।।१६।।

अर्थ—मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति हे अरहत देव ! विचार करके देखा जाय तो जाति और लिग यह शरीर के आश्रित है व शरीर ससार का कारण है । इसलिये इन जाति और लिग के अभिमान से एक एक के ऊपर हठाग्रह करने वाले इस संसार से मुक्त नही हो सकते है। यह जीव शुद्ध चैतन्य रूप में है, इस प्रकार जानकर और उसके अलावा जाति और लिग उसके बाह्य-चिह्न तथा अभिमान इत्यादि त्याग करने वाला जीव ही इस ससार से मुक्त हो सकता है अन्यथा नही ऐसे आपने समझाया है ।। १६ ।।

विवेचन—मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा आत्मा के मिथ्याश्रद्धान से उत्पन्न हुए अनात्म शरीरादि बाह्य पदार्थों को ही आत्मा मानता है। इस तरह के मिथ्याज्ञान से इस लोक व परलोक सम्बन्धी नाना प्रकार के क्लेश उत्पन्न हुए है किन्तु यदि वह जीवात्मा आत्मज्ञान अर्थात् शरीरादि से आत्म स्वरूप का भेद ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब वह आत्मस्वरूप का चिन्तवन करके परम शात हो जाता है। परन्तु जो उस आत्म स्वरूप के लिए उद्योग

नही करता, वह उत्कृष्ट तप करने पर भी निर्वाण की प्राप्ति नही कर सकता अर्थात् उसे सुख शाति कभी नही मिल सकती।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य कहते है कि मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा को सच्चे स्वरूप का ज्ञान न होने पर विषय कषाय सबन्धी जैसी आकुलताये होती है तथा विषयो की प्राप्ति के लिये मिथ्या बुद्धि से अनेक दुर्गतियो मे जाकर जो जो महान् कष्ट उठाने पडते है, वे सभी दु ख आत्मा के सच्चे स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर दूर हो जाते है। ज्ञानी पुरुष ससार मे रहने पर भी दुखी नही होता क्योकि वह इष्ट की प्राप्ति न होने पर विषाद नही करता, उपलब्ध हुइ सुखदायक व दु खदायक सभी वस्तुओ और सुख दु ख को समताभाव से ही भोगता है तथा परलोक मे भी अपने शुभ भावो के प्रताप से साताकारक सम्बन्धो को प्राप्त करता है। आत्म ज्ञानी उसी मार्ग पर चलता है जो साक्षात् मोक्ष पद को प्राप्त कराने वाला है। ऐसे मार्ग मे जाने पर विकट असाता के सम्बन्ध बहुत तुच्छ प्रतीत होते है।

समाधिशतक मे पूज्यपाद आचार्य ने कहा है कि—

लिग देहाश्रित दृष्ट देह एवात्मनो भव ।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिगकृताग्रहा ॥

अर्थ—जटा धारणादि अन्य मत के भेष व नग्नपना आदि जैनधर्म के भेष शरीर के आश्रित है। शरीर ही आत्मा का ससार है इसलिए जो भेष धारने मे ही मुक्ति प्राप्ति का पक्ष रखने वाले

है कि बाहर का भेष ही मोक्ष का कारण है वे दु.खमय संसार से नही छूटते हैं। इसी प्रकार बाहरी भेष का संकल्प विकल्प भी मोक्ष का कारण नही है अतएव मोक्ष प्राप्ति के लिए भेष का अभिमान छोड़ना आवश्यक है।

भावार्थ– यहाँ पर आचार्य इस विकल्प का त्याग करते है कि मैं साधु भेषधारी हूँ, अत. मै अवश्य संसार सागर से पार हो जाऊगा। बाहरी भेष केवल अतरंग चारित्र का कारण है। सो अन्तरंग चारित्र वीतराग भाव रूप है। इसलिए बाहरी वीतराग अवस्था का भी प्रकाश होना चाहिए। क्योंकि श्रेष्ठ चारित्र के लिए श्रेष्ठ भेष नग्नपना तथा परिग्रह रहितपना जरूरी है, इसलिए नग्न दिगम्बर भेष धारण करके अन्तरंग चारित्र पालना चाहिये, अतरंग वीतरागता के लिए बाहरी वीतराग नग्नदशा निमित्त कारण है। मोक्ष का कारण तो अन्तरग स्वात्मानुभव रूप वीतराग चारित्र है। कोई बाहरी भेष भले ही बनाले, परन्तु भीतर वीतराग भाव व स्वात्मानुभव की जागृति जब तक नहीं होगी तव तक उसका बाहरी भेप उसे कभी मोक्ष मार्ग मे नही ले जा सकता। इसलिए आचार्य ने यह कहा है कि जो ऐसा अहङ्कार करता है कि मै मुनि हूँ, तथा मैं मुक्त हो जाऊंगा, वह विकल्प होने से स्वानुभव के बाहर है। स्वानुभव मे विकलपरहित दशा होती है। वही अभेद या निश्चय रत्नत्रयमयी परिणति होती है। वही परिणति कर्मो की संहारिका है। इसलिए श्रद्धावान को यह निश्चय रखना चाहिए कि आत्मा का भाव ही तारक भाव,

निवारक व सुखकारक है । अत इस आतम भाव की प्राप्ति के लिए जो जो निमित्त कारण हो, उनको मिलाकर उस भाव को प्राप्त करना चाहिए। जैसे रोटी का पकना अग्नि से होता है, परन्तु अग्नि का लाभ तभी होता है जब कोयला या लकडी आदि सामग्री इकट्ठी की जावे। इसी तरह कर्मो की निर्जरा उत्कृष्ट आत्मध्यान से होती है। यह आत्मध्यान तभी हो सकता है जब कि उसके लिए मुनि का नग्न भेष व अन्य व्यवहार चारित्र रूपी बाहरी सामग्री का सम्बन्ध मिलाया जाय। इसके अतिरिक्त जैसे कोई अग्नि जलाने के लिए लकडी आदि सामग्री तो इकट्ठा कर ले पर अग्नि जलाने का उद्योग नही करे तो कभी रोटी नही पक सकती, इसी तरह कोई नग्न भेष तो भले ही धारण कर ले तथा इस भेष के अहकार मे उन्मत्त रहे, किन्तु आत्मानुभव व आत्म ध्यान का कुछ भी यत्न न करे तो उसका केवल भेप धारण व व्यवहार चारित्र कर्मो की निर्जरा का कारण नही हो सकता। इसलिए भेष का विकल्प भी छोडकर स्वात्मानुभवी होने का उपाय करना चाहिए ॥१६॥

पाप और पुण्य दोनो ही ससार के कारण है—

हत पापं वोल्पुण्यम. शिवपद प्राप्तयर्मल्लादोडं ।
प्रतियन्ध प्रदमल्तु वर्णते गमहँत्यक्क सुच्चैः कुलो ॥
दित संशोधकमल्ल दप्पुदरि नेंतु सर्व कर्मोत्कर ।
क्षतियिंदल्लदे मुक्तियागदुवलं निर्वाण लक्ष्मीपती ! ॥ २०

अर्थ—हे मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति अरहंत देव ! शुभ को उत्पन्न करने वाला जो पुण्य है वह भी शुभ कर्म के बन्ध होने का कारण है, अत वह भी मोक्ष के लिए कारण नही है। परन्तु मोक्ष का प्रतिबन्धक नही है। यह पुण्य कर्म अरहंत पद को प्राप्त होने, इन्द्र धरणेन्द्र, नारायण, प्रतिनारायण, बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती, महान उत्तम तथा उच्च वंश, वर्ण, उत्तम कुल प्राप्त करने को निमित्त मात्र है, परन्तु इनका प्रतिबन्धक नही है। वह पुण्य कर्म ससार के लालच को बढ़ाने के कारण बध का कारण है। इस दृष्टि से देखने पर दोनो ही बन्ध के कारण है। इसलिए पुण्य और पाप दोनों मोक्ष के लिए कारण नही ॥२०॥

विवेचन—हे जीव ! जो पाप के उदय से प्राप्त दुःख जीव की बुद्धि को शीघ्र ही मोक्ष को ले जाने योग्य उपायो की ओर कर देवे तो वे पाप जनित दु ख भी बहुत अच्छे है, ऐसा ज्ञानी कहते है।

भावार्थ—कोई जीव पाप करके नरक मे गया, वहा पर महा दु.ख भोगे। उसमे किसी समय किसी जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। क्योकि उस जगह सम्यक्त्व की प्राप्ति के तीन कारण है, पहला तो यह है, कि तीसरे नरक तक देवता उसे संबोधने को जाते है, तो कभी किसी जीव को धर्म सुनने से सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाता है। दूसरा कारण पूर्व भव का स्मरण और तीसरा नरक की पीडा से दुखी होकर नरक को महान् दुःख

का स्थान जान कर, तथा नरक के कारण जो हिंसा, झूठ, चोरी कुशील, परिग्रह और आरम्भादिक है, उनको खराब जान के पापों से उदास होवे। तीसरे नरक तक ये तीन कारण है। आगे के चौथे, पॉचवे, छटे, सातवे नरक मे देवो का गमन न होने से धर्म श्रवण तो है नही, लेकिन जाति स्मरण है, तथा वेदना से दुखी होकर पाप से भयभीत होना ये दो ही कारण है। इन कारणों को पाकर किसी जीव को सम्यक्त्व हो सकता है।

इस नय से कोई भव्य जीव पाप के उदय से खोटी गति मे गया, और वहाँ जाकर यदि सुलट जावे तथा सम्यक्त्व पावे, तो वह कुगति भी श्रेष्ठ है।

योगीन्द्र आचार्य ने कहा भी है कि—जो पाप जीवो को दु ख प्राप्त कराके फिर शीघ्र ही मोक्षमार्ग मे बुद्धि को लगावे, तो वे अशुभ भी अच्छे है। तथा जो अज्ञानी जीव किसी समय अज्ञान तप से देव भी हुआ हो और देव से मरके एकेन्द्रिय हुआ तो वह देव पर्याय पाना किस काम का। अज्ञानी को देव पद पाना भी व्यर्थ है। जो कभी ज्ञान के प्रसाद से उत्कृष्ट देव होने के बाद अनत कालतक सुख भोगकर देव से मनुष्य होकर मुनिव्रत धारण करके मोक्ष को पावे तो उसके समान दूसरा क्या होगा। नरक से निकलकर कोई भव्य जीव मनुष्य होकर महाव्रत धारण करके मुक्ति पावे, तो वह भी अच्छा है। ज्ञानी पुरुष ऐसे पापियो को भी श्रेष्ठ कहते है। जो पाप के प्रभाव से दु ख भोगकर उस दु.ख

से डरकर दु:ख के मूल कारण पाप को जानकर उससे उदास हो गये, तो वे प्रशंसा करने योग्य है, पर पापी जीव प्रशंसा के योग्य नही है, क्योंकि पाप क्रिया सर्वदा निन्दनीय है। भेदाभेद रत्नत्रय स्वरूप श्री वीतराग देव के धर्म को जो धारण करते है, वे श्रेष्ठ है। यदि सुखी धारण करे तो भी ठीक और दुखी धारण करे तो भी ठीक है, क्योकि शास्त्र का वचन है कि कोई भी महाभाग दुखी हुए ही धर्म मे लवलीन होते है।

फिर भी वे पुण्य अच्छे नही है । वे जीव को राज्य देकर शीघ्र ही दु खो को उत्पन्न करते है, ऐसा ज्ञानी पुरुष कहते है। सबोधन के साथ जीव के लिए आचार्य कहते है कि हे जीव! जो अपने सम्यग्दर्शन के सन्मुख होकर मरण को भी पावे तो भी अच्छा है, परन्तु अपने सम्यग्दर्शन से विमुख हुआ पुण्य भी करे तो ठीक नही है।

निज शुद्धात्मा की प्राप्ति रूप निश्चय सम्यक्त्व के सन्मुख हुए जो सत्पुरुष है वे इसी भव में युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन की तरह अविनाशी सुख को पाते है और कितने ही नकुल सहदेव की तरह अहमिन्द्र पद पाते है, पर सम्यक्त्व से रहित मिथ्यादृष्टि जीव पुण्य करने पर भी मोक्ष के अधिकारी नही होते, वे संसारी जीव ही है। इसलिए निश्चय से मिथ्यादृष्टियो के पुण्य का निषेध है। भेद रत्नत्रय की आराधना से रहित देखे सुने अनुभव किये भोगो की वाछारूप निदान बन्ध के परिणामो सहित जो

मिथ्यादृष्टि ससारी अज्ञानी जीव है, उनको पुण्य के फल से सपदा प्राप्त होने से अभिमान होता है, अभिमान से बुद्धि भ्रष्ट होती है, बुद्धि भ्रष्ट होने से पाप तथा पाप से भव-भव मे अनन्त दु ख पाता है। इसलिये मिथ्यादृष्टि जीवो का पुण्य पाप का ही कारण है। जो सम्यक्त्वादि गुणसहित भरत, सगर, राम तथा पाडवादि विवेकी जीव हुए है, उनको पुण्यबन्ध ने अभिमान नही उत्पन्न किया। वह पुण्य परम्परया मोक्ष का कारण है। जैसे अज्ञानियो के पुण्य का फल विभूति गर्व का कारण है, वैसे सम्यग्दृष्टियो के नही है। वे सम्यग्दृष्टि पुण्य के पात्र हुए चक्रवर्ती आदि की विभूति पाकर मद अहकारादि विकल्पो को छोडकर मोक्ष गये। अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव चक्रवर्ती, बलभद्र आदि पद पाकर भी निरहकार रहे। कहने का तात्पर्य यह है कि पहले समय मे ऐसे सत्पुरुष हो गये है जिनके वचन मे सत्य, बुद्धि मे शास्त्र, मन मे दया, भुजाओ मे शूर वीरता तथा याचको मे पूर्ण लक्ष्मी का दान और मोक्ष मार्ग मे गमन था किन्तु वे निरभिमानी हुये। जिनके किसी प्रकार का अहकार नही हुआ, उनके नाम शास्त्रो मे प्रसिद्ध है। कहा भी है कि—

दोहा—देवह सत्थह मुनिवरह यो विद्देसु करेह।
णिय मे पाउ हवयि तसु जे ससारू भमेइ॥

अर्थ –सम्यक्त्व पूर्वक जो देव, गुरु तथा शास्त्र की भक्ति करता है उसके मुख्य तो पुण्य होता है और परम्परया मोक्ष

होता है और जो सम्यक्त्व रहित मिथ्यादृष्टि जीव है उनके भाव भक्ति नही है, उनके लौकिक बाहरी भक्ति है उससे पुण्य का बन्ध होता है, पर कर्म क्षय नही होता।

यह कथन सुनकर कोई शका करता है कि हे प्रभो! जब पुण्य मोक्ष का कारण नही है तब ग्रहण करने योग्य नही है और जो ग्रहण योग्य नही है तो भरत, सगर, राम तथा पाडवादिकों ने पंचपरमेष्ठी के गुण स्तवन क्यो किये ? तथा दान पूजादि शुभ क्रियाओ द्वारा क्यो पुण्योपार्जन किया ?

इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते है—जिस प्रकार परदेश मे स्थित कोई रामादिक पुरुष अपनी प्यारी सीता के पास से आये हुये किसी मनुष्य से बाते करता है तथा उसका सन्मान करते हुए उसे दान देता है । ये सभी कारण अपनी प्रिया के लिये ही है, कुछ उसके प्रसाद के कारण नही है, उसी प्रकार वे भरत, सगर, राम तथा पाडवादि महापुरुष वीतराग परमानन्द स्वरूप मोक्ष लक्ष्मी के सुखामृत रस के प्यासे हुये सासारिक स्थिति छेदने के लिए विषय कषायो से उत्पन्न हुए आर्त रौद्र खोटे ध्यान के नाश का कारण श्री पंचपरमेष्ठी के गुणो को स्तुति तथा दान पूजा आदि करते है, पर उनकी दृष्टि केवल निज परिणति पर रहती है, पर वस्तु पर नही रहती। पचपरमेष्ठी की भक्ति आदि शुभ क्रिया रूप परिणति करते हुए जो भरतादिक है, उनके बिना चाहे ही पुण्य प्रकृति का आस्रव होता है । जैसे कृषक की दृष्टि अन्न पर रहती है, तृण भूसा आदि पर नही । इसी प्रकार

भरतादिक की दृष्टि केवल स्व की ओर रहती थी। किन्तु उनको बिना चाहा पुण्य सहज ही मिल जाता था । वह उनको ससार मे नही भटका सकता था। अर्थात् वह जीव शिवपुरी का पात्र है । इसलिए यह पुण्य सम्यग्दृष्टियो के लिए मोक्ष तथा मिथ्यादृष्टियो के लिये बन्ध का कारण है।

कोई भव्य जीव तीर्थंकर आदि की विभूति का भोग करके ससार का त्याग करता है और कोई आहार दानादि देकर दीक्षा लेते है, किन्तु मोक्ष दोनो ही प्राप्त करते है—

दिवदिंबंदु नृपेंद्र तीर्थकर राज्य श्रीयुमं विट्टु भू ।
भुवनं बंणिसे दीक्षे गौंडनु मवोलकोद्गतं भिक्षुभ ।।
व्यवर प्रात्रेयनिक्कि लब्धि वशदिद दीक्षेयं गोंडनु ।
भवदि पिंगिदोडाव भेदम रोळ् निर्वाण लक्ष्मीपती ! ।।२१

अर्थ—हे मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति अरहत देव ! कोई भव्य जीव स्वर्ग से आकर चक्रवर्ती और तीर्थंकर होकर मध्यलोक सबधी अनेक भोग सपत्ति को भोगकर अत मे उसको त्यागकर लोकोत्तर श्रेष्ठ जिन दीक्षा को धारण कर मोक्ष पद को पाते हैं और कोई अन्य भव्य जीव सत्पात्र को भक्तिपूर्वक आहार, शास्त्र, औषधि, अभय इन चार प्रकार के दान को देकर काल लब्धि को पाकर जिन दीक्षा धारण करके इस ससार समुद्र से मुक्त होकर मोक्ष पद को पाते है। इन दोनो मे क्या भेद है ? अर्थात् कुछ भी भेद नही है, दोनो ही समान हैं ।।२१।।

बिवेचन—कोई भव्य जीव भावपूर्वक सम्यग्दर्शन विशुद्धि आदि षोडश कारण भावना भावे। और तीर्थकर होकर मोक्ष प्राप्ति करलेवे। जिन्होने सोलह कारण भावना भाई उन्हे तीर्थंकर पद की महान विभूति और अतिशयो की प्राप्ति हुई।

दर्शन विशुद्धि, विनय सम्पन्नता, शील और व्रतो मे अतीचार न लगना, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग और सवेग, यथाशक्ति त्याग और तप, साधु समाधि, वैयावृति, अरहत भक्ति, आचार्य भक्ति, बहुश्रुत भक्ति, प्रवचन भक्ति, आवश्यकापरिहाणि, मार्ग प्रभावना और प्रवचन वत्सलता ये तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव है।

दर्शन विशुद्धि—पच्चीस दोष रहित निर्मल सम्यग्दर्शन का नाम दर्शन विशुद्धि है। दर्शन विशुद्धि को पृथक इसलिए कहा है कि जिन-भक्ति रूप या तत्वार्थश्रद्धा रूप सम्यग्दर्शन अकेला भी तीर्थंकर प्रकृति का कारण होता है। यशस्तिलक मे कहा भी है कि—केवल जिन भक्ति भी दुर्गति के निवारण मे, पुण्य के उपार्जन मे और मोक्ष लक्ष्मी के देने मे समर्थ है।' अन्य भावनाये सम्यग्दर्शन के बिना तीर्थंकर प्रकृति का कारण नही हो सकती। अत दर्शन विशुद्धि की प्रधानता बतलाने के लिये इसका पृथक निर्देश किया है।

दर्शन विशुद्धि का अर्थ—इहलोकभय, परलोकभय, अत्राणभय अगुप्तिभय, मरणभय, 'वेदना भय और आकस्मिक भय इन सातो भयो से रहित होकर जैन धर्म का श्रद्धान करना नि शकित है। इस लोक और परलोक के भोगो की आकाक्षा नही करना

निःकांक्षित है। शरीरादिक पवित्र है इस प्रकार की मिथ्याबुद्धि का अभाव निर्विचिकित्सा है। अरहंत को छोड़कर अन्य कुदेवों के द्वारा उपदिष्ट मार्ग का अनुसरण नहीं करना अमूढ़दृष्टि है। उत्तम क्षमा आदि के द्वारा आत्मा के धर्म की वृद्धि करना और चार प्रकार के संघ के दोषों को प्रकट नहीं करना उपगूहन है। क्रोध, मान, माया और लोभादिक धर्म के विनाशक कारण रहने पर धर्म से च्युत नहीं होना स्थितिकरण है। जिन शासन में सर्वदा अनुराग रखना वात्सल्य है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के द्वारा आत्मा का प्रकाशन और जिन शासन की उन्नति करना प्रभावना है। सम्यग्दर्शन के इन आठ अंगों का सद्-भाव तथा तीन मूढ़ता, छह अनायतन और आठ मदों का अभाव चमड़े के पात्र में रखे हुए जल को नहीं पीना और कन्दमूल कलिंग सूरण, लशुन आदि अभक्ष्य वस्तुओं को भक्षण न करना आदि को दर्शन-विशुद्धि कहते हैं।

रत्नत्रय और उनके धारकों का महान् आदर और कषाय का अभाव विनय सम्पन्नता है। पांच व्रत और सात शीलों में निर्दोष प्रवृत्ति करना शील व्रतेष्वनतिचार है। जीवादि पदार्थों के स्वरूप को निरूपण करने वाले ज्ञान में निरन्तर उद्यम करना अ-भीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। संसार के दुःखों से भयभीत रहना संवेग है अपनी शक्ति के अनुसार औषधि, आहार, अभय व ज्ञान का सुपात्र के लिये दान देना शक्तितस्त्याग है। अपनी शक्ति पूर्वक जैनशासन के अनुसार काय क्लेश करना शक्तितस्तप है। जैसे भाण्डागार में

आग लग जाने पर किसी भी उपाय से उसका शमन किया जाता है उसी प्रकार व्रत और शील सहित यति जनो के ऊपर किसी निमित्त से कोई विघ्न उपस्थित होने पर उस विघ्न को दूर करना साधु समाधि है। निर्दोष विधि से गुणवान पुरुषो के दोषो को दूर करना वैयावृत्य है। अरहन्त का अभिषेक, पूजन, गुण स्तवन नाम का जप आदि अर्हत भक्ति है। आचार्यों को नवीन उपकरणो का दान, उनके सम्मुख गमन, आदर, पाद पूजन, सम्मान और मन शुद्धि युक्त अनुराग का नाम आचार्य भक्ति है। इसी प्रकार उपाध्यायो की भक्ति करना बहुश्रुत भक्ति है। रत्नत्रय आदि के प्रतिपादक आगम मे मन शुद्धि युक्त अनुराग का होना प्रवचन भक्ति है। सामायिक, स्तुति, चौबीस तीर्थकरो की स्तुति वन्दना, एक तीर्थकर की स्तुति, प्रतिक्रमण-कृतदोष निराकरण, प्रत्याख्यान-नियत काल के आगामी दोषो का परिहार और कायोत्सर्ग-शरीर से ममत्व का छोड़ना इन छह आवश्यको मे यथाकाल प्रवृत्ति करना आवश्यकापरिहाणि है। ज्ञान,दान,जिन पूजन और तप के द्वारा जिन धर्म का प्रकाश करना मार्ग प्रभावना है। गाय और बछड़े के समान प्रवचन और साधर्मी जनो मे स्नेह रखना प्रवचन वत्सलत्व है। ये सोलह भावनाये तीर्थकर प्रकृति के बन्ध का कारण होती है। इससे अनेक भोग सामग्री मिलती है, परन्तु इससे शीघ्र ही विरक्त होकर अरहत पद को प्राप्त होता है। दूसरा कोई भव्य जीव गृहस्थावस्था मे रहते हुए भी सम्यक्त्व-पूर्वक दान पूजा और सत्पात्र को चार दान सयम व्रत नियम

इत्यादि साधन के द्वारा अभ्यास करते हुए सासारिक भोग सपत्ति से विरक्त होकर जिन दीक्षा धारण कर घोर तपश्चर्या के द्वारा कर्म की निर्जरा करके मोक्ष पद को पाते है। परन्तु इन दोनो मे कोई भी भेद नही है, दोनो समान है ।।२१।।

मोक्ष का प्रतिबन्धक मिथ्यात्व है—

अदरि भव्यन दर्शनोन्मुखतेय वैराग्य संपत्तियुं ।
पदुळं नीक्षेयनांपुदुं जिनमतात्यो द्बोधमुं संयमा-
भ्युदय प्राप्तियु मप्रमादतेयु मात्मध्यानमुं वार्तेय ।
लल्दे मुन्नाद् विभावमेल्लभफलं निर्वाण लक्ष्मीपति ! ।।२२

अर्थ—मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति हे अरहत भगवान् ! इस कारण भव्य जीव की सम्यक्त्व मे स्थिरता, वैराग्य भाव होना, सतोष के साथ दीक्षा धारण करना, जैनागम के रहस्य को समझना, सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होना, और अभ्युदय की प्राप्ति तथा प्रमाद रहित होना व आत्म ध्यान मे लीनता, यह सभी जीव के साथ अनादि परम्परा से आये हुये है । परन्तु इसके विपरीत मिथ्यात्व इत्यादि विभाव परिणाम जो है, वह सभी जीव को निष्फल है, अर्थात् हेय है ।।२२।।

विवेचन—जो सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मा को अपने से ही आपको निर्विकल्प रूप देखता है, अथवा तत्वार्थ श्रद्धान की अपेक्षा चचलता, मलिनता तथा शिथिलता इनका त्यागकर शुद्धात्मा ही उपादेय है, इन प्रकार रुचिरूप निश्चय करता है,

के साधन से वह मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है। परन्तु इसके विपरीत मिथ्यात्व मार्ग का अनुभव या साधन करने से मोक्ष की प्राप्ति जीव को नही हो सकती है। क्योकि ये सभी आत्मा से भिन्न विभाव परिणति होने के कारण राग द्वेष को उत्पन्न करने वाले है अर्थात् चारो गति के भ्रमण के कारण है ओर हेय है।

तनु मात्रं युतं बोध दर्शनन संख्यात प्रदेशं प्रसि-
द्धन मूर्त प्रभु कर्तृ भोक्तृनियतं संहार विस्तारश-
क्तिनियुक्तं भवमुक्त नूर्ध्वगति शीलं प्राण भृज्जीवने-
तुं चिनि ताने विशिष्ट जीव कथनं निर्वाणलक्ष्मीपती ! ॥२३

अर्थ—मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति हे अरहत भगवान्! यह जीवात्मा अनादि काल से अपने प्राप्त किये हुये शरीर प्रमाणपना, ज्ञान दर्शनपना, असख्यात प्रदेशपना, अमूर्तपना, समर्थपना, और पाप पुण्य का कर्तृत्वपना, उसके फल का भोक्तृत्वपना, सकोच विस्तार की शक्तिपना और ससार से मुक्त होने का ज्ञानपना व ऊर्ध्वगमन स्वभावपना यह सभी जीवात्मा मे रहने वाले विशेष गुण नही क्या ? अर्थात् सभी विशेष गुण जीवात्मा मे रहने वाले गुण है, यही आपके कहने का सार है ॥२३॥

विवेचन—यह आत्मा छोटे बडे शरीर प्रमाण भी है, दर्शन ज्ञानमय भी है, असख्यात प्रदेशी भी है, अमूर्त है, सामर्थ्य भी है, और पाप पुण्य का कर्ता भी है, उसके फल को भोगने वाला भी

है, संकोच विस्तार तथा दराड प्रतर कपाट लोक पूरण इत्यादि समुद्घात करने वाला भी है, स्वभाव से ऊर्ध्व गमन करने वाला है। ये सभी आत्मा मे रहने वाले विशेष गुण है। यह जीव अनादि काल से अपने पूर्व मे किये हुए कर्म के अनुसार छोटे बडे शरीर को धारण करने वाला कहलाता है। और हमेशा आत्मा मे ज्ञान दर्शन लक्षण वाला होने के कारण इसे ज्ञान दर्शन वाला कहते है तथा बन्ध वाला भी है और बन्ध से मुक्त होने के कारण मुक्त भी है। कहा भी है कि.—

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढ गई ॥

भावार्थ—यद्यपि यह जीव शुद्ध निश्चय नय से आदि, मध्य और अन्त से रहित निज तथा पर का प्रकाशक उपाधि रहित और शुद्ध ऐसा जो चैतन्य रूप निश्चय प्राण है. उससे जीता है। तथापि अशुद्ध निश्चयनय से अनादि कर्म बन्धन के वश से अशुद्ध जो द्रव्य प्राण और भाव प्राण है, उनसे जीता है इसलिये जीव है यद्यपि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से परिपूर्ण तथा निर्मल ज्ञान और दर्शन रूप उपयोग स्वरूप जीव है तथापि अशुद्ध नय से क्षायोपशमिक ज्ञान और दर्शन से रचा हुआ है, इस कारण ज्ञान-दर्शनोपयोगमय है। जीव व्यवहार नय से मूल कर्मो के आधोन होने से स्पर्श, रस, गंध और वर्ण वाली मूर्ति से सहित होने के कारण मूर्त है तथापि निश्चय नय से अमूर्त इन्द्रियो के अगोचर

शुद्ध और अशुद्ध रूप स्वभाव का धारक होने से अमूर्त है। कर्ता—यह जीव निश्चय नय से क्रिया रहित टकोत्कीर्ण (निरुपधि) ज्ञान के स्वभाव का धारक है तथापि व्यवहार नय से मन, वचन तथा काय के व्यापार को उत्पन्न करने वाले कर्मों से रहित होने के कारण शुभ अशुभ कर्मों का करने वाला है, इसलिये कर्ता है।

सदेह परिमाणो – यद्यपि जीव निश्चय स्वभाव से उत्पन्न शुद्ध लोकाकाश के समान असख्यात प्रदेशो का धारक है तथापि शरीर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न सकोच तथा विस्तार के आधीन होने से घट आदि भाजनो मे स्थित दीपक की तरह निज देह परिमाण है।

भोक्ता—यद्यपि जीव शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से रागादि विकल्प रूप उपाधियो से शून्य है और अपनी आत्मा से उत्पन्न जो सुख-रूपी अमृत है, उसका भोगने वाला है। तथापि अशुद्ध नय से उस प्रकार के सुखरूप अमृत भोजन के अभाव से शुभ कर्म से उत्पन्न सुख और अशुभ कर्म से उत्पन्न जो दु ख है उनका भोगने वाला होने के कारण भोक्ता है।

ससारस्थ—ससार मे स्थित है, अर्थात् ससारी है। यद्यपि जीव शुद्ध निश्चयनय से ससार रहित है और नित्य आनद रूप एक स्वभाव का धारक है तथापि अशुद्ध नय से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन भेदो से पॉच प्रकार के ससार मे रहता है। इस कारण ससारस्थ है।

सिद्धो—सिद्ध है, यद्यपि यह जीव व्यवहार नय से निज आत्मा की प्राप्ति स्वरूप जो सिद्धत्व है उसके प्रतिपक्षी कर्मो के उदय से असिद्ध है तथापि निश्चय नय से अनंत ज्ञान और अनत स्वभाव का धारक होने से सिद्ध है । सो वह, विस्ससोड्ढ गई अर्थात् स्वभाव से ऊर्ध्व गमन करने वाला है । इस प्रकार यह सभी गुण आत्मा के अन्दर ही है।

भगवान असख्यात प्रदेशी भी है। मूल शरीर से कुछ कम भी है—

चरमांग प्रभुचिद्घनाकृतिये पेर्च कुंदनन्यांगदो ।
ळ्पोरेपिल्लप्पुदरिंदमितु मुचितासंख्यप्रदेशं म्रेवं ॥
धुरनष्टाष्टकलंक नष्ट गुण नानंदात्मकं लोकभू ।
धर चूड़ामणि सिद्धनेंदरिपिदै निर्वाण लक्ष्मीपती ! ॥२४

अर्थ—हे मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति अरहत भगवान! सिद्ध भगवान अपने अन्तिम शरीर से कुछ न्यून और चिदानदमयो है। वे पर शरीर प्रवेश के कारण न्यूनाधिक से रहित और समान असख्यात प्रदेश वाले है अष्ट कर्मो से रहित है व क्षायिक सम्यक्त्वादि आठ गुणो से युक्त है, आनद स्वरूप है और लोकरूपी पर्वत के चूड़ामणि रत्न के समान अर्थात् लोक के अग्रभाग पर विराजमान है ऐसा आपने समझाया है ॥२४॥

कहा भी है कि —

णिक्कम्मा अट्ठ गुणा किचूणा चरम देहदो सिद्धा ।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहि संजुत्ता ॥

अर्थ—जो जीव ज्ञानावरणादि आठ कर्मो से रहित है, सम्यक्त्व आदि आठ गुणो के धारक है तथा अंतिम शरीर से कुछ कम हैं वे सिद्ध है और ऊर्ध्व गमन स्वभाव से लोक के अग्र भाग मे स्थित है, नित्य है तथा उत्पाद और व्यय इन दोनो से युक्त है ।

विशेषार्थ—कर्म रूपी शत्रुओ के विध्वस करने मे समर्थ अपने शुद्ध आत्मा के बल से ज्ञानावरणादि समस्त मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतियो के विनाशक होने से अष्टविध कर्मो से रहित सिद्ध होते है तथा सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अगुरु लघु और अव्याबाध ये आठ गुण सिद्धो के होते है, इस गाथोक्त क्रम से उन अष्ट कर्म रहित सिद्धो के आठ गुण कहे जाते है । अब उन गुणो को विस्तार से दर्शाते है ।

केवल ज्ञान आदि गुणो का स्थान रूप जो शुद्ध आत्मा है वही ग्राह्य है । इस प्रकार की रुचि रूप निश्चय सम्यक्त्व जो कि पहले तपश्चरण करने की अवस्था मे उत्पन्न किया था, और समस्त जीव आदि तत्वो के विषय मे विपरीत अभिनिवेश (जो पदार्थ जिस रूप है उसके विरुद्ध आग्रह) से रहित मुख्य परिणाम रूप परम क्षायिक सम्यक्त्व नामा प्रथम गुण सिद्धो के कहा गया है ।। पूर्व काल मे छद्मस्थ अवस्था मे भावनागोचर किये हुये निर्विकार रहित स्वानुभव रूप ज्ञान का फल और एक ही समय मे

लोक तथा अलोक के सपूर्ण पदार्थो मे प्राप्त हुए विशेषो को जानने वाला दूसरा केवलज्ञान नामा गुण है।

संपूर्ण विकल्पो से शून्य निज शुद्ध आत्मा की सत्ता का अवलोकन (दर्शन) रूप जो पहले दर्शन भावित किया था, उसी दर्शन का फलभूत एक काल मे ही लोक अलोक के संपूर्ण पदार्थो मे प्राप्त हुए सामान्य को ग्रहण कराने वाला केवल दर्शन नामा तृतीय गुण है। अति घोर परिषह तथा उपसर्ग आदि के आने के समय मे जो पहले अपने निरञ्जन परमात्मा के ध्यान मे धैर्य का अवलम्बन किया था उसी के फलभूत अनन्त पदार्थो के ज्ञान मे खेद के अभावरूप लक्षण का धारक चतुर्थ अनन्त वीर्य नामक गुण है। सूक्ष्म अतीन्द्रिय केवल ज्ञान का विषय होने से सिद्धो के स्वरूप को सूक्ष्म कहते है। यह सूक्ष्मत्व पचमगुण है। एक दीपक के प्रकाश मे जैसे अनन्त दीपको के प्रकाश का समावेश हो जाता है, उसी प्रकार एक सिद्ध के क्षेत्र मे सकर तथा व्यक्तिकर दोष के परिहार पूर्वक जो अनन्त सिद्धो को अवकाश देने का सामर्थ्य है वही छठा अवगाहन गुण कहा जाता है। यदि सिद्ध सर्वथा गुरु (भारी) हो तो लोह पिड के समान उनका अध.पतन (नीचे गिरना) ही होता रहे और यदि सर्वथा लघु (हलका हो) तो वायु से ताडित आक वृक्ष की रुई के समान उनका निरन्तर भ्रमण ही होता रहे, सिद्ध स्वरूप ऐसा नही है। इसलिये सातवा अगुरु लघु गुण कहा जाता है। स्वभाव से उत्पन्न और शुद्ध जो आत्म स्वरूप है उससे उत्पन्न तथा राग आदि विभावो से रहित ऐसे

सुखरूपी अमृत का जो एकदेश अनुभव पहले किया, उसी के फल रूप अव्याबाध अनन्त सुख नामक अष्टम गुण सिद्धो मे कहा जाता है। ये जो सम्यक्त्व आदि अष्ट गुण कहे गये है सो मध्यम रुचि के धारक शिष्यो के लिए है और विस्तार मे मध्यम रुचिवाले के प्रति तो विशेष भेद नभ का अवलम्बन करने से गति रहितता, इन्द्रिय रहितता, शरीर रहितत्व, योगरहितत्व, वेद रहितता, कषाय रहितत्व, नाम रहितत्व, गोत्ररहितत्व तथा आयु रहितत्व आदि विशेष गुण और इसी प्रकार अस्तितत्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादि अनन्त सामान्य गुण जैनागम के अनुसार जानने चाहिये।

व्रतदिंदं परिशुद्धरागि मतियं जैनागमार्थगळोळ् ।
रतियं माडि तदर्थं तिळिदु सर्वग्रंथमं विट्टु सं ॥
हृतरागादि विभाव रात्म पददोळ्योगीन्द्ररिर्पते सं ।
वृत रम्म दिगरी गळें तु नेरे व निर्वाण लक्ष्मीपती ! ॥८५

अर्थ—हे मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति अरहत देव ! जो जीव अहिसा इत्यादि व्रतो से परिशुद्ध होकर जैन शास्त्र मे भक्ति और प्रेम रखते है, उसके अर्थ को ठीक तरह से समझ कर अन्त मे सभी वाह्य और अन्तरग परिग्रह को त्याग देते है, रागद्वेष इत्यादि विभाव परिणति को दूर कर देते हैं, वे आत्म सम्पन्न तथा श्रेष्ठ मुनि के समान जितेन्द्रिय होकर आत्म चिंतन रत रहते हैं। [ऐसे भावक को वन्धु तथा अन्य कुटुम्बी लोगो के द्वारा उपद्रव होगा क्या ? नही ऐसे सत्पुरुष को कोई भी उपद्रव न करके सभी उनके

सहायक वन जाते है, यही आपका अभिप्राय है ।।२५।।

विवेचन—द्रव्य और भाव रूप जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इनके त्याग रूप पाच व्रत है । ऐसे कहे हुए लक्षण वाले जो तप, श्रुत और व्रत है, उनसे युक्त पुरुष ध्याता (ध्यान करने वाला) होता है। यह तप, श्रुत तथा व्रत ही ध्यान की सामग्री है। सो ही कहा है कि वैराग्य तत्वो का ज्ञान, बाह्य आभ्यतर रूप दोनो परिग्रहो का त्याग, राग और द्वेष से रहित साम्यभाव और बाईस परीषहो को जीतना ये पाचो ध्यान के कारण है।

शका—ध्यान तो मोक्ष का मार्गभूत है, अर्थात् मोक्ष का कारण है और जो मोक्ष के चाहने वाला पुरुष है, उसको पुण्य बंध का कारण होने से व्रत त्यागने योग्य है अर्थात् व्रतो से पुण्य का बन्ध होता है और पुण्य बन्ध ससार का कारण है, इसलिये मोक्षार्थी व्रतो का त्याग करता है । आपने तप, श्रुत और व्रतो को ध्यान की पूर्णता का कारण कहा सो यह आपका कथन असिद्ध होता है ?

समाधान—केवल व्रत ही त्यागने योग्य है ऐसा नही किन्तु बन्ध के कारण जो हिंसा आदि भेदो के धारक अव्रत है वे भी त्यागने योग्य है। सो ही श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि हिंसा आदि अव्रतो से पाप का बन्ध होता है, तथा मोक्ष जो है वह पाप व पुण्य इन दोनो के नाश से होता है । इस कारण मोक्ष का

चाहने वाला पुरुष जैसे अव्रतो का त्याग करता है, वैसे ही अहिसादि व्रतो का भी त्याग करे । विशेष यह है कि मोक्षार्थी पुरुष पहले अव्रतो का त्याग करे पश्चात् व्रतो का धारक होकर निर्विकल्प समाधि (ध्यान) रूप आत्मा के परम पद को प्राप्त होकर तदनन्तर एकदेश व्रतो का भी त्याग कर देना है । श्री पूज्यपाद स्वामी ने समाधि शतक मे कहा है कि मोक्ष का चाहने वाला पुरुष अव्रतो का त्याग करके व्रतो मे स्थित होकर आत्मा के परम पद को पावे और उस आत्मा के परमपद को प्राप्त होकर उन व्रतो का भी त्याग करे।

प्राणियो को शुभ भाव रूप धर्मध्यान का अवलम्बन करना चाहिये—

अदरिं निन्न पदाब्जमं नेनेव निन्नकारमं नोळ्पनि ।
न्नदयामूल चरित्र दोळ्नेळ्व निन्नोंदुक्तिय केळ्व पेळ्वु ॥
दिदेल्लं मद्विधर्मायुतु देव शरणं स्वस्थत्व मिलप्पशा ।
लदोळी मार्ग मे मेलु कडुवदरिं निर्वाण लक्ष्मीपती ! ॥२६॥

अर्थ—मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति हे अरहन्त भगवान ! आपके चरण कमल का स्मरण करना, आपके मंगलमय स्वरूप को देखना, आपके दयामय चरित्र मे रुचि रखना, आपके वचनामृत रूपी शास्त्र का मनन करना आदि शुभ भाव इस पचम काल मे हमारे जैसे चचल चित्त वाले अल्पज्ञानियो के लिये रक्षक है । इसलिए सभी प्राणियो को धर्मध्यान का अवलम्बन करना चाहिये ।

साराश यह है कि इस पचम काल मे तीन शुभ संहनन नही है। अर्थात् मनुष्यो की हड्डी वज्र वृषभनाराच, वज्र नाराच तथा नाराच सहनन रूप नही है। तीन उत्तम संहननधारी ही उपशम और क्षपक श्रेणी पर चढ़ कर आठवे गुणस्थान मे जा सकते है। आजकल तीन हीन सहनन है इसलिए सातवे गुणस्थान तक संभव है। आगे शुक्लध्यान है, सो नही है। धर्मध्यान मे आत्मा का ध्यान भले प्रकार से किया जा सकता है । चौथे अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थान में धर्मध्यान या आत्मध्यान हो सकता है। इस धर्मध्यान मे शुभ योग मन्द कषाय के कारण होता है।

इसमे विशेष पुण्य का बन्ध हो सकता है और यह जीव स्वर्ग मे उत्तम देव हो सकता है। वहा से चौथे काल मे उत्पन्न होकर मानव भाव से तप साधन करके कर्मों का क्षय कर निर्वाण पद प्राप्त कर सकता है।

कुंदकुंदाचार्य जी ने मोक्ष पाहुड मे कहा है कि—

भरहे दुस्सम काले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्प सहावठिदे ण हु मण्णइ सोवि अण्णाणि ॥

—भरहे भरत क्षेत्रे भारतवर्षे, दु खमे काले पचम काले, कलिकालेऽ परनाम्नि काले। धम्मज्झाण हवेइ साहुस्स धर्मध्यानं भवति साधोर्दिगम्बरस्य मुने त अप्प सहावठिदे तद्धर्मध्यानं आत्मस्वभावस्थिते आत्मभावना तन्मये मुनौ भवति । ण हु

मण्णइ सोवि अण्णाणि न मन्यते नांगीकरोति। सोऽपि पुमान् पापीयान् अज्ञानी जिनसूत्रबाह्य.।

भावार्थ—इस भरत क्षेत्र मे दु षम नाम के पचम काल मे दिगम्बर साधु मुनि को धर्मध्यान होता है, वह धर्म ध्यान अपने आत्मस्वभाव मे रत मुनि को होता है।

परन्तु ज्ञानी होकर भी वह कहता है कि इस पचम काल मे मुनि नही है और होना नही चाहिये। ऐसे कहने वाले पुरुष पापी व अज्ञानी है तथा जिन-शास्त्र के बाह्य हैं ऐसे कुंदकुंदाचार्य कहते हैं।

अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएहि लहहि इन्दत्तं।
लोयतिदेवत तत्थ चुआ णिव्वुदिं जन्ति॥

अर्थात् आज इस पचम काल मे भी सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय से शुद्ध मुनि आत्मध्यान करते है और वे इन्द्रपद या लौकान्तिक देव पद को प्राप्त करते है तथा वहाँ से च . करके मनुष्य भव धारण करके निर्वाण को प्राप्त करते है।

भगवान के सभी नाम सार्थक है—

परमेशं परमेष्ठि शंभुवभवं ब्रह्म शिवं शंकरं।
स्मरसंहारक नच्युतं पुरहरं बुद्धं जिनं विष्णुवें॥
दरहस्यं प्रभुशुद्धनेंदु नेगळ्दिर्दितप्प नामानियं।
परमाथ तद्दर्थमप्पुददु तां निर्वाण लक्ष्मीपती !॥२७॥

अर्थ—मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति हे अरहंत भगवान्! आप श्रेष्ठ स्वामी (परमेश्वर) हैं। परमेष्ठी-उत्तम स्थान के रहने वाले हैं।

शम्भू-–सुख को उत्पन्न करने वाले है, अभ—संसार रहित, ब्रह्म—ज्ञानवान, शिव—मंगलकारक, शंकर—सुखकारक, स्मर संहारक—काम विकार को बिलकुल आपने नष्ट कर दिया है।

अच्युत—हमेशा अचल रहने वाले तथा निश्चल स्वरूप मे रहने वाले और अचल सिद्धशिला मे रहने के कारण आप अच्युत है।

पुरहर—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, और अन्तराय कर्म को निर्मूल नाश किया हुआ है।

जिन—कर्म वैरी को या पाचो इन्द्रियो को जीतने के कारण जिन है।

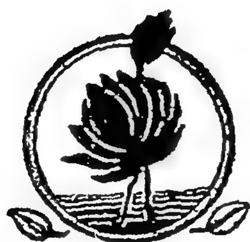
विष्णु—सर्व लोक मे व्यापक, सर्वदर्शी, सर्वज्ञ, सदा शिव सहिष्णुता होने के कारण आप विष्णु कहलाते है। इस प्रकार इस रहस्य के कारण ये नाम परिशुद्ध परमात्मा के नाम से प्रसिद्ध हुए है। इस प्रकार जो नाम है वे सभी परमार्थ और सार्थक हैं यही इसका भाव है ।।२७।।

यह स्तोत्र भव्य जीवो के कण्ठ मे माला के समान सुशोभित हो, कवि ऐसी कामना करता है—

भवविध्वंसन वास्तवस्तवमनोंदं पेंड्डु नीनेंदुभ ।
न्यवर प्रेरणेयिंद मितु सुजनोत्तंसं लसद्वृत्तस ।।

छंदविमुक्तागण दिंदे निर्मिसिदुदी निर्वाण लक्ष्मीपती ।
स्तवविभ्राजिके भव्य कंठकलितं नक्षत्र मालोपमं ।।२८।।

इस ससार समुद्र से पार हुए उस भगवान तथा परमात्मा जिनेश्वर का यथार्थ स्तोत्र आपको (बप्पन कवि) रचना चाहिये, इस प्रकार भव्यजीवो की प्रेरणा से इस सुजनोत्तम बप्पन कवि के द्वारा रचा हुआ और उत्तम छन्दो से सुशोभित यह काव्य उत्तम कान्ति और गुणो से युक्त भव्यो के गले मे नक्षत्र माला के समान सुशोभित होवे। अश्विनी आदि २८ नक्षत्र होते है, उसी तरह इस स्तोत्र मे २८ श्लोक है। जो भव्य जीव नित्य नियम से इस स्तोत्र को पढ़ेगा और याद करेगा, उसका इहलोक और परलोक मे कल्याण होगा तथा सुख पावेगा। यह स्तोत्र भी इस लोक मे सूर्य चंद्र के रहने तक जयवत रहे ।।२८।।



आत्म भावनाष्टक

मालती छंद।

अनुपम गुणकोशं छिन्न लोभोरुपाश ।
तनु भवन समान केवलज्ञानमानं ॥
विनमदमरवृंदं सच्चिदानन्दकदं ।
जिन बल समतत्व भावयाम्यात्मतत्व ॥ १ ॥
रहितसकलमोहं मुक्तसंसारदाह ।
प्रहतविततमार्गं छिन्न नोकर्म मार्ग ॥
सहज चरणसारं जन्म वाराशिपार ।
स्वहित परिणतत्वं भावयाम्यात्मतत्त्वं ॥ २ ॥
अमृत सुखमनंतं निश्चलं मुक्तिकातं ।
शमित खलकषायं लब्धमुक्त्यभ्युपायं ॥
दमित करणदंतिं प्राप्तदुष्कर्मशांतिं ।
भ्रमण विरहितत्वं भावयाम्यात्मतत्वं ॥ ३ ॥
अकुटिलगति युक्तं भावकर्मातिरिक्तं।
सकल विमल बोधं ध्वस्त संसारबाधं ॥
प्रकटित निज धर्मं नित्यचैतन्य शर्मं।
विकृति विरहितत्वं भावयांम्यात्मतत्वं ॥ ४ ॥
प्रवरगुणकदंवं द्रव्य कर्माद्रिशंकं ।
भववननिधिपोतं शुद्ध चित्तस्वभावं ।

शिवसुखसुचरित्र घातिवल्लीलवित्रं ।
नवमरसकतत्वं भावयाम्यात्मतत्व ॥ ५ ॥
स्मर कमल शशांकं शुष्कदुष्कर्मपंके ।
करणतिमिर भानुं मुक्ति शैलेंद्र सानु ॥
स्थिरतर सुख रूपं नष्टकर्मोग्रतापं ।
विरहित परतत्वं भावयाम्यात्मतत्व ॥ ६ ॥
अजरममरमेक विश्वलोकावलोक ।
निजरुचिमणिदीपं शात कर्माग्नि ताप ॥
सुजन जनवसत मोक्षलक्ष्मीनिकेतं ।
त्रिजगति परतत्वं भावयाम्यात्मतत्व ॥ ७ ॥
त्रिदशनुतमनिंद्य जैनयोगींद्रवंद्य ।
मधुरयमलदूरं शाश्वतानंदपूर ॥
चिदमल गुण मूर्ति बालचंद्रोरु कीर्ति ।
विदित सकल तत्व भावयाम्यात्मतत्व ॥ ८ ॥



आचार्यरत्न १०८ श्री देशभूषणजी महाराज

द्वारा लिखित और संपादित महत्वपूर्ण ग्रन्थ

१. भूवलय अध्याय १ से १४ तक
२. भावनासार
३ शास्त्र सार समुच्चय
४ निर्वाण लक्ष्मीपति स्तुति
५. चौदह गुणस्थान चर्चा
६. तत्व दर्शन
७. भगवान महावीर
८. धर्मामृतसार (हिन्दी-मराठी में)
९. ध्यान सूत्राणि
१०. भूवलय के कुछ पठनीय श्लोक सार्थं
११ अपराजितेश्वर शतक—प्रथम भाग
१२. ,, द्वितीय भाग
१३. त्रेसठ शलाका पुरुष
१४. उपदेश सार संग्रह—भाग १
१५. ,, भाग २
१६. ,, भाग ३
१७. ,, भाग ४
१८. ,, भाग ५
१९. ,, भाग ६
२०. निरंजन स्तुति
२१. गुरु-शिष्य-प्रश्नोत्तरी
२२. रयणसार